

# ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ का समाजशास्त्रीय अध्ययन

A Sociological Study of 'Mera Bachapan Mere Kandhon Par'

एम.फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध

शोध निर्देशक  
प्रो. केदारनाथ सिंह

सह-शोध निर्देशक  
डॉ. देवेन्द्र कुमार चौबे

शोधार्थी  
कु. मणिबेन पटेल



भारतीय भाषा केन्द्र  
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान  
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय  
नई दिल्ली 110067  
2011



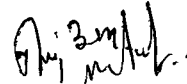
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय  
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY  
Centre of Indian Languages  
School of Language, Literature & Culture Studies  
New Delhi- 110067, INDIA

---


Date: 25.07.2011

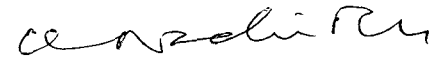
DECLARATION

I declare that the work done in the Thesis/Dissertation entitled " 'MERA BACHAPAN MERE KANDHON PAR' KA SAMAJSHASTRIYA ADHYAYAN" (A SOCIOLOGICAL STUDY OF 'MERA BACHAPAN MERE KANDHON PAR) submitted by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree or any other University/Institution.

  
MANIBEN PATEL  
(Research Scholar)

  
DR. DEVENDRA KUMAR CHOUBEY  
Co-supervisor

  
PROF. KEDARNATH SINGH  
(Supervisor)  
CIL/SLL&CS/JNU

  
PROF. K. NACHIMUTHU  
Chairperson  
CIL/SLL&CS/JNU

## विषयानुक्रमणिका

भूमिका	i-vi
अध्याय एक : साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की परंपरा और दलित समाज	1-25
1.1 साहित्य के सामाजशास्त्रीय अध्ययन का इतिहास	
1.2 भारतीय समाज और दलित साहित्य का समाजशास्त्र	
अध्याय दो : 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में भारतीय समाज और संस्कृति का स्वरूप	26-37
2.1 भारतीय समाज और 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर'	
2.2 भारतीय संस्कृति और 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर'	
अध्याय तीन : 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में अभिव्यक्त बाल-जीवन	38-69
3.1 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' : दलित बालजीवन की त्रासदी पूर्ण सच्चाईयां	
3.2 भूख से संघर्ष	
3.3 शिक्षा के लिए संघर्ष	
अध्याय चार : भारतीय समाज में स्त्री	70-87
4.1 दलित समाज में स्त्री	
4.2 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में स्त्री	
अध्याय पाँच 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में भाषा का स्वरूप	88-100
उपसंहार	101-102
संदर्भ ग्रंथ सूची	103-107

## भूमिका

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आत्मकथा दुःखों के महासागर में कई स्तरों पर डूबते, शोषित होते एक दलित बालक की लम्बी कथा है। जो अपने समाज और परिवेश को अपने साथ समेट कर लाई है। यह ऐसा आईना है जिसमें भारतीय ब्राह्मणवादी व्यवस्था का घृणित, कुत्सित, मानव रक्त चूसक चेहरा साफ-साफ नज़र आता है। शोषण के कितने स्तर हैं, इस आत्मकथा को पढ़कर ज्ञात होता है। इसमें रोंगटे खड़े करने वाली और कदम-कदम पर रोने पर मजबूर करने वाली सचाईयां दर्ज हैं। सदियों से चली आ रही व्यवस्था का असली चेहरा जिसे देखना हो, वह इस आत्मकथा को अवश्य पढ़े। इसमें एक-एक पंक्ति पर शोषण और उसके विरुद्ध किए गए संघर्ष के नए-नए आयाम परत दर परत खुलते हैं। एक-एक पंक्ति में पीड़ा है, टीस, घुटन और उसे झेलती अनेक भूखी-नंगी जिन्दगियाँ हैं। वे विवश, विकल हिंसा, अत्याचार और दुतकार सहने के लिए मजबूर हैं। उन्हें मजबूर किया गया है। ऐसे ही तमाम अवरोधों और मुश्किलों भरे कँटीले रास्ते पर चलता हुआ नन्हा बालक अपने लहुलूहान पैरों से लम्बी यात्रा तय करता है। कदम-कदम पर घायल कर देने वाले तमाम हथकंडे इस शोषणकारी समाज ने ईजाद कर लिए हैं। लेकिन इस बालक को क्या कहा जाय? इससे अधिक संघर्ष करने का ज़ब्बा शायद ही किसी में हो। बालक सौराज बेहद हिम्मती है, लगन कूट-कूट कर भरी है उसमें। उसकी जिन्दगी में आँख खुलने के साथ, हर घड़ी एक नई मुसीबत आ खड़ी होती है। इससे बचने का कोई रास्ता नहीं है सिवाय झेलते जाने के। वह झेलता है और आगे बढ़ता है। रुकता नहीं मानो रुकना सीखा ही नहीं। वह नन्हें पैरों से लम्बा, बोझिल, खून के आँसू रूला देने वाला सफ़र तय करता है। आत्मकथा की भूमिका में अमित सेन गुप्ता का उस बालक के बारे में लिखा गया कथन अक्षरशः सत्य है, 'उसने रचनात्मक पुनरुद्धार का अपना संसार पहले से परिकल्पित कर लिया है। वो हारने वाला इंसान नहीं है। वो पहले ही जीत चुका है। वो जीवट भरा ठोस खामोश और वीतरागी है; उसके हाथ रोजमर्रा के शारीरिक श्रम के इतिहास से सख्त हो चुके हैं, सिर पर विनयी साया उसकी लम्बी अन्तहीन गरीबी की कहानी है, जीवन की अनिश्चितताओं को पराजित करना उसकी चेतना का अभिन्न अंग बन चुका है।'

इस आत्मकथा पर काम करना मेरा सौभाग्य ही कहा जाएगा. यह विषय मेरे शोध निर्देशक प्रो० केदारनाथ सिंह द्वारा सुझाया गया है. शोध कार्य के दौरान पढ़ते हुए ऐसा लगा कि इसे जितनी बार पढ़ा जाय, उतनी बार नए-नए अर्थों, संघर्षों की परतें खुलती जाती हैं. समाज की तह को उघाड़ कर रख दिया गया है इस आत्मकथा में. वर्तमान समाज को देखकर बारबार यह सवाल सामने खड़ा हो जाता है कि हमने तनिक विकास किया भी है या नहीं? मानवता के स्तर पर तो बिलकुल नहीं. यह साफ-साफ दिखाई देता है कि हम अधिक बर्बर हुए जा रहे हैं. मानवता तकनीकी विकास के जरिए नहीं लायी जा सकती. धन के सहारे भी नहीं प्राप्त की जा सकती. यह ज़मीन से जुड़े व्यक्तियों की सम्पत्ति है, जो निरन्तर संघर्ष करते हैं. अफसोस होता है कि हम कैसे समाज में जी रहे हैं, जो बर्बरता और अत्याचार की हर सीमाएं पार कर मनुष्यों को पानी की बूँद के लिए तरसा देता है. लानत है ऐसे युग और समाज पर. ऐसे हिंसक, क्रूर समाज से लड़ कर एक बालक कैसे निकला होगा! कितनी अपार क्षमता होगी उसमें!! दरिन्दे, क्रूर भेड़िये जैसे इस समाज के सामने एक निहत्था बालक!!! इस बालक ने तो इस लड़ाई में जीत हासिल की लेकिन कितने ऐसे बच्चे क्या इसी तरह सफल हो पाते होंगे? या हो पाएंगे?? सवाल अनिरुत्तर रह जाता है. ऐसे धारदार नुकीले रास्ते पर चलते हुए कितने सफल हो पाएंगे?? कितने बालक उससे लड़ने की सोचेंगे? जब भूख से मौत हो रही हो, देखते ही देखते एक - एक करके परिजन काल के गाल में समा रहे हों, ऐसे में किसका धैर्य जवाब नहीं देगा? इस बच्चे की नन्हीं हथेली पर लिखी इबारतें काम करते-करते मिट चुकी हैं, उन्हीं हथेलियों से वह समाज का वीभत्स सच लिखता है. सबको चुनौती देता अडिग खड़ा बालक समाज के सामने उदाहरण बन जाता है.

यहाँ मेरे लघु-शोध प्रबंध का विषय है 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' का समाजशास्त्रीय अध्ययन. जो कुल पाँच अध्यायों में विभाजित है. प्रथम अध्याय 'साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की परंपरा और दलित समाज' के अंतर्गत दो उप-अध्याय हैं

(1.) साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन का इतिहास.

## (2.) भारतीय समाज और दलित-साहित्य का समाजशास्त्र

इनके अंतर्गत मैंने पश्चिम जगत् में विकसित साहित्य के समाजशास्त्र के विवेचन के साथ भारतीय संदर्भों में भी इसका विवेचन, विश्लेषण किया है. 'भारतीय समाज और दलित साहित्य का समाजशास्त्र' में मैंने यह सामने लाने की कोशिश की है कि दलितों के उत्थान और उनके साहित्य को भारतीय समाज किस रूप में ग्रहण कर रहा है? किस प्रकार की प्रतिक्रियाएं आ रही हैं? अभी भी हमारा समाज अपने धिनौने, कूर व्यवहार को स्वीकार कर पाने और बदलने के मूड में है अथवा नहीं? इसके साथ-साथ दलित साहित्य को किस रूप में उभर कर सामने आना चाहिए, इस पर भी चर्चा की गई है.

द्वितीय अध्याय 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में भारतीय समाज, और संस्कृति का स्वरूप के अंतर्गत मेरा ध्यान आत्मकथा उन बिन्दुओं पर है जहाँ धर्म के झूठे पर्दे खींच कर उसे बेनकाब किया गया है. हमारा धर्म और हमारी संस्कृति इतनी कठोर है कि एक बच्चे को प्रतिदिन शोषित होना पड़ता है, लेकिन यह बालक व्यवस्था को चुनौती देता हुआ आगे बढ़ता है. आत्मकथा के माध्यम से सामाजिक व्यवस्था को भली प्रकार जाँचा-परखा गया है. "शोषण और धिक्कार के सामाजिक यथार्थ की सैरबीन के आरपार यह जाति-व्यवस्था की झूठी योग्यता परखती है और छद्म मेरिट तन्त्र को चुनौती देती हुई महान मेधा के साथ दुनियां में दाखिल होती है, वह विनीत और संकोची है, लगभग नश्वर, विस्मय और जादू से भरे हुए एक नन्हें से बच्चे की नाजुक आँखें हैं, जो अपने और अपने परिवार के लिए रोजी कमाने की कोशिश कर रहा है जबकि इस उम्र में उसे खेलकूद के मैदान में होना चाहिए था." समाज में धर्म और सत्ता के बीच सांठ-गांठ रहती है. दोनों के सहयोग से उच्चवर्ग अपना वर्चस्व बनाए रखता है. इस अध्याय में इन्हीं बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है.

तीसरा अध्याय 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में अभिव्यक्त बाल-जीवन' है. इसमें तीन उप-अध्याय हैं-

1. 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' : दलित बाल-जीवन की त्रासदीपूर्ण सच्चाइयां

2. भूख से संघर्ष
3. शिक्षा के लिए संघर्ष

इस के अंतर्गत आत्मकथा को केन्द्र में रखकर आजादी के बाद की सामाजिक व्यवस्था की सच्चाइयों को उभारा गया है। आजादी के बाद भी लोग भूख से मरने पर विवश हैं। बच्चे अपने बचपन से ही यातनाएं भोगने और शोषित होने पर मजबूर हैं। संविधान द्वारा कहने मात्र को समानता का अधिकार दे दिया गया है, लेकिन बालक सौराज अछूत होने का दंश भोगता है। हाड़ कँपाती बर्फीली हवाओं के बीच सारी रात ठिठुरता है, वह बिछौने में नहीं सो सकता। शिक्षा प्राप्त करने दौरान सम्माननीय शिक्षकों के नए-नए चेहरे बेनकाब होते हैं। आत्मकथा में लेखक द्वारा उठाए गए तमाम अहम् सवालियों में प्रेमपाल यादव के प्रसंग में कही गई बात बहुत महत्वपूर्ण है। जब बालक श्यौराज प्रेमपाल यादव को अपनी समस्याओं से अवगत कराता है, तो वे यह कहते हैं कि हमारे वैदिक शिक्षा पद्धति में छात्र भिक्षा माँग कर पढ़ लिया करते थे। इस प्रसंग में लेखक का कथन 'क्या दलित भी भिक्षा माँग सकता है?' बड़ा ही महत्वपूर्ण और हमारे समाज का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करता है। जिन हालातों में बालक जी रहा है वैसी स्थिति में कितने लोग हैं, जो शिक्षा प्राप्त कर लेने की लगन नहीं छोड़ते? मेरे विचार से 100 प्रतिशत में से 98 प्रतिशत लोगों का धैर्य जवाब दे जाएगा।

आत्मकथा में लेखक के जीवन प्रसंग मात्र नहीं हैं। इसमें भारतीय समाज में स्त्रियों की वास्तविक दशा को भी भली प्रकार जाँचा-परखा गया है। इसका विवेचन मैंने चौथे अध्याय 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में स्त्री समाज' में दो बिन्दुओं के अंतर्गत किया है—

1. दलित समाज में स्त्री
2. 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में स्त्री

इंदिरा का शासन कहने मात्र को है, अम्मा तथा अन्य स्त्रियों की स्थिति इस महिला शासन का मखौल उड़ाने के लिए काफी है। यह आत्मकथा स्त्री शोषण को सामने लाने वाले महत्वपूर्ण दस्तावेज की तरह है।

पाँचवा अध्याय 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में भाषा का स्वरूप ' में मैंने दलित साहित्य की भाषा को समेटते हुए आत्मकथा के भाषा-शिल्प पर विचार किया है. अन्त में एक छोटा सा उपसंहार और फिर आधार व सहायक ग्रंथों की योजना है.

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आत्मकथा को पढ़ना मेरे लिए नया अनुभव था. इस को पढ़ने के बाद जीवन का एक नया ही रूप मेरे सामने उद्घाटित हुआ. डॉ० श्यौराज के जीवन संघर्षों से बहुत प्रेरणा मिली. मुझे ज्ञात हुआ 'बालक श्यौराज : महाशिला खण्डों का संग्राम' शीर्षक से डॉ० धर्मवीर ने 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आधारित पुस्तक लिखी. यह किताब वेस्ट सेलर में आई. इस आत्मकथा का मराठी अनुवाद वरिष्ठ पत्रकार रेखा देश पाण्डेय ने किया और अंग्रेजी अनुवाद प्रो० तपन वासू ने किया. बलबीर माधोपुरी ने पंजाबी और प्रो० इम्तियाज अहमद ने उर्दू अनुवाद किया. मलयालम, कन्नड़, जर्मन आदि भाषाओं में भी इसके अनुवाद होने की जानकारी ने इस आत्मकथा पर लघु शोध लिखने को सार्थकता प्रदान की. जनसत्ता में इस किताब को लेकर समीक्षात्मक बहस चली थी, जिसमें डॉ० धर्मवीर ने इसे विश्व स्तर की किताब कहा था. ओबामा की आत्मकथा 'पिता से मिले सपने' से इसकी तुलना की गई और किसी ने गोर्की के बचपन से भी इसकी तुलना की.

मेरे शोध निर्देशक गुरुवर प्रो० केदारनाथ सिंह ने न केवल विषय निर्वाचन में मेरी मदद की, बल्कि उनका निश्चल स्नेह व आशीर्वाद भी बराबर मुझे मिलता रहा. उन्होंने मुझे इस कार्य को पूरा करने के लिए उचित निर्देशन और वैचारिक स्वतंत्रता प्रदान की. उनके साथ काम करना मेरा परम सौभाग्य है. मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ. मैं अपने सह-शोध निर्देशक डॉ० देवेन्द्र कुमार चौबे को भी आभार व्यक्त करती हूँ. उन्होंने पूरे शोध कार्य के दौरान आत्मीय संबंध बनाए रखा और मुझे प्रोत्साहित करते रहे. उनके मित्रतापूर्ण, सरल-सहज और सहयोगी व्यवहार को कभी भूलाया नहीं जा सकता. इसके अतिरिक्त विभागीय शिक्षकों के प्रति भी मेरे मन में आदर का भाव है. शोध कार्य के दौरान आत्मकथा के लेखक डॉ० श्यौराज सिंह बेचैन से की गई बातचीत के माध्यम से बहुत कुछ अनकहे पन्ने सामने आए और आत्मकथा के महत्वपूर्ण बिन्दुओं को समझने में बहुत मदद मिली.



लधु-शोध प्रबंध लिखने के दौरान माँ की याद बराबर आती रही. बीमार होने के बाद भी उन्होंने मुझे जिम्मेदारियों से मुक्त रखा. चन्द्रकान्त सर , राजीव निराला सर को विशेष रूप से धन्यवाद देना चाहूँगी. उन्होंने हर छोटी -बड़ी समस्या को सुलझाने में मेरी सहायता की. जितेन्द्र, संदीप रंजन, अर्चना, प्रणव भइया, अवधेश झा, तासा, कृष्णा, रम्या, सोमी, अम्बे दी, गणपत सर, अनिरुद्ध को भी धन्यवाद, जिन्होंने शोध अध्ययन के दौरान आत्मीय संबंध बनाए रखा. टाइप करने में मधुलिका ने बहुत सहायता की पर उसे कोई धन्यवाद नहीं.

**कु. मणिबेन पटेल**

## अध्याय एक

### साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की परम्परा और दलित समाज

- 1.1 साहित्य के सामाजशास्त्रीय अध्ययन का इतिहास
- 1.2 भारतीय समाज और दलित साहित्य का समाजशास्त्र

## 1.1 साहित्य के सामाजशास्त्रीय अध्ययन का इतिहास

18वीं शती के उत्तरार्द्ध में साहित्य का समाजशास्त्र तब प्रकाश में आया जब एक अनुशासन के विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ। परिणामस्वरूप राजनीति अध्ययन में भौगोलिक राजनीति, आर्थिक राजनीति और सांस्कृतिक राजनीति आदि की जरूरत महसूस की जाने लगी। ऐसा अध्ययन के सभी क्षेत्रों में हुआ। एक अनुशासन दूसरे अनुशासनों से टकराते हुए अपना विकास करने लगे। साहित्य का समाजशास्त्र भी ऐसे ही जरूरतों की परिणति है। गौरतलब है कि साहित्य और समाजशास्त्र दोनों का अध्ययन क्षेत्र समाज ही है। लेकिन अंतर यह है कि समाजशास्त्र, समाज का वैज्ञानिक और तथ्यपूर्ण अध्ययन करता है जबकि साहित्य, सामाजिक संवेदनाओं को अपना आधार बनाता है।

साहित्य के समाजशास्त्र के संबंध में यह बहस का मुद्दा रहा है कि साहित्य के समाजशास्त्र का अध्येय विषय साहित्य है या समाजशास्त्र इस संबंध में डॉ. नगेन्द्र का कहना है कि "व्याकरण के नियम के अनुसार तो समाजशास्त्र ही है क्योंकि साहित्य यहाँ विशेषण और 'समाजशास्त्र' मुख्य पद है। साहित्य के अध्येता का लक्ष्य समाजशास्त्र के सिद्धांतों और संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में साहित्य का विवेचन ही हो सकता है और होना चाहिए।"<sup>1</sup>

साहित्य को मात्र रचना के तौर पर नहीं देखा जा सकता। साहित्य के पीछे साहित्यकार का जीवन, व्यक्तित्व परिवेश, विचारधाराएँ होती हैं, जिनसे अलग करके साहित्य (कृति) को नहीं देखा जा सकता और देखना भी नहीं चाहिए। ऐसा करना वास्तव में कृति की अधूरी व्याख्या होगी। "साहित्य अपने व्यक्त या मूर्त रूप से रचना अथवा कृति है, किंतु अव्यक्त रूप में कृति के पीछे कृतिकार का व्यक्तित्व और कृतिकार के व्यक्तित्व के पीछे उसका सामाजिक परिवेश रहता है। अतः साहित्य का एक छोर सामाजिक परिवेश के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है। ... समाजशास्त्र का प्रयोग यहाँ साधन (या समाजशास्त्र की उम्र शब्दावली में औजार के रूप में होता है वह साधन है, साध्य नहीं और साहित्य के लिए उसकी सार्थकता यहीं तक है।"<sup>2</sup> साहित्य के समाजशास्त्र की मूल चिंता साहित्य है न कि

समाजशास्त्र। "समाजशास्त्री भले साहित्य के समाजशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखा समझें लेकिन वास्तविकता यह है कि अब वह समाजशास्त्र से स्वतंत्र एक साहित्यिक विधा के रूप में विकसित हो रहा है। पिछले सौ वर्षों में संस्कृति की भौतिकवादी व्याख्या के आधार पर कलाओं का जो समाजशास्त्र विकसित हुआ है उसका एक रूप है साहित्य का समाजशास्त्र। उसे कोई साहित्य का समाजशास्त्र कहे या समाजशास्त्रीय आलोचना कहे कोई फर्क नहीं पड़ता। मुख्य बात यह है कि उसका लक्ष्य साहित्य की सामाजिकता की व्याख्या करना है। कभी न कभी समाजशास्त्री पद का प्रयोग सामाजिक के अर्थ में भी होता है इसलिए जहाँ कहीं 'समाजशास्त्रीय' दिखाई दे उसे व्यवस्थित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का पर्याय समझना गलत है। यह ध्यान देने वाली बात है कि साहित्य के समाजशास्त्र का विकास साहित्य के आलोचकों ने किया है न कि विशुद्ध समाजशास्त्रीयों ने तेन, लिओ लावेंथल, लूसिए गोल्डमान, मिशेल जेराफ और रेमण्ड विलियन्स का योगदान किसी भी समाजशास्त्री से बहुत अधिक है।"<sup>3</sup>

समाज के उदय के कारणों की तलाश, विकास के विविध पहलुओं आदि का अध्ययन समाजशास्त्र का विषय है। साहित्य में समाज की उपस्थिति अवश्यम्भावी है। सामाजिक जीवन जगत के चित्रण, उसमें सुधार अथवा परिवर्तन की आकांक्षा, बेहतर दृष्टिकोण लाने के प्रयास आदि साहित्य के अन्तर्गत आते हैं। साहित्य में परिवर्तन और विकास होता रहता है और यह समाज के विकास और परिवर्तन से प्रभावित भी होता है। 'साहित्य का समाजशास्त्र' इन्हीं बिन्दुओं की पड़ताल करता है। "साहित्य के समाजशास्त्र की जिम्मेदारी है कि वह लेखक के काल्पनिक पात्रों के अनुभव और स्थिति का संबंध उस ऐतिहासिक वातावरण से जोड़े जिससे वे लिए गये हैं। उसे विषयों और शैलीगत साधनों के वैयक्तिक समीकरणों को सामाजिक समीकरण में रूपांतरित करना पड़ता है।"<sup>4</sup>

साहित्य के समाजशास्त्र के बारे में लेखकों की अलग अलग धारणाएँ हैं। एलेन सेगल ने ब्रिटिश जनरल आफ सोशयोलोजी (1971,) में यह प्रश्न उठाया गया कि "क्या साहित्य का समाजशास्त्र संभव है ? अगर संभव है तो साहित्यिक कृति को समझने में इसका कौन सा वह अतिरिक्त एवं विशिष्ट योगदान होगा जो एक साहित्य का आलोचक नहीं दे सकता ?"<sup>5</sup> आर. ए. संजीव ने माना है कि "साहित्य

के समाजशास्त्र का सीधा अर्थ साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन, सामाजिक जीवन अथवा सामाजिक संबंधों के परिप्रेक्ष्य में साहित्य का अध्ययन, सामाजिक जीवन की प्रक्रिया के अन्तर्गत साहित्य का अध्ययन, सामाजिक क्रिया के रूप में साहित्य के विविध पक्षों का आख्यान अथवा साहित्य और सामाजिक विधान के परस्पर संबंध तथा प्रभाव प्रतिक्रिया का अध्ययन।<sup>6</sup> साहित्य के समाजशास्त्र के विषय में टेरी ईगलटन का मत है कि "साहित्य के समाजशास्त्र का मुख्य संबंध साहित्यिक उत्पादन के साधनों, वितरण और एक खास समाज में विनिमय से है। किताब कैसे प्रकाशित होती है, लेखकों की सामाजिक स्थिति क्या है, पाठकों की संख्या कितनी है, शिक्षा का स्तर क्या है आदि बातों का लेखा जोखा तक ही सीमित है।"<sup>7</sup>

बच्चन सिंह लिखते हैं कि "साहित्य का समाजशास्त्र घटिया दर्जे की रचनाओं के लिए ज्यादा उपयोग है। यही नहीं घटिया दर्जे की रचनाओं से ही उनके अभिप्राय की पुष्टि में मदद मिलती है। श्रेष्ठ रचनाओं में कई स्तर पर 'मिडिएशन' होता है जो इस प्रकार के समाजशास्त्रीय अध्ययन की पकड़ में नहीं आ सकता। साहित्य अपने देशकाल की सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ अनन्य कालों के लिए प्रासंगिक और प्रिय होता है। यह अध्ययन इसे नहीं छूता।"<sup>8</sup> इस विषय में डॉ. मैनेजर पाण्डेय का राय अलग है। वे इसके सकारात्मक पहलुओं की चर्चा करते हैं उनका मानना है "साहित्य का समाजशास्त्र व्यापक सामाजिक प्रक्रिया के भीतर क्रियाशील सम्पूर्ण साहित्य प्रक्रिया की विभिन्न गतियों और परिणतियों की व्याख्या करते हुए साहित्य के वास्तविक सामाजिक स्वरूप की पहचान कराता है और उसमें साधारण पाठकों की दिलचस्पी जगाता है। इस तरह वह रचना और आलोचना दोनों की सामाजिक सार्थकता बढ़ाता है।"<sup>9</sup> यही नहीं वे यह भी कहते हैं कि "साहित्य के समाजशास्त्र की मुख्य प्रवृत्ति समग्रतावादी है। वह साहित्य के सभी रूपों और पक्षों को समझने पर जोर देता है। साहित्य प्रक्रिया के मुख्य तीन पक्ष हैं लेखक, रचना और पाठक साहित्य विश्लेषण की अधिकांश दृष्टियों के केन्द्र में इन तीनों में से कोई एक रहता है। साहित्य के समाजशास्त्र में इन तीनों का विवेचन है और इनके आपसी संबंधों का भी।"<sup>10</sup>

साहित्य के समाजशास्त्र के अन्तर्गत आने वाले तत्वों की चर्चा डॉ. नगेन्द्र के यहाँ भी है। उन्होंने लिखा है कि "साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए विकास क्रम में देशकाल अर्थात् भौगोलिक तथा ऐतिहासिक प्रभावों के विश्लेषण की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है : वास्तव में इस अध्ययन प्रक्रिया का आरंभ प्रायः यहीं से होता है।"<sup>11</sup>

साहित्य के समाजशास्त्र के विविध रूप हैं। दरअसल समाजशास्त्र में अनेक दृष्टियाँ व पद्धतियाँ हैं। साहित्य के समाजशास्त्र का रूप कैसा होगा यह इन पद्धतियों पर निर्भर करता है। साहित्य के समाजशास्त्र के स्वरूप के अनिश्चय का एक कारण समाजशास्त्र संबंधी दृष्टियों एवं पद्धतियों की अनेकता भी है। ऊपरी तौर पर समाजशास्त्र एक अनुशासन लगता है लेकिन वास्तविकता यह है कि उसके भीतर अनेक दृष्टियाँ व पद्धतियाँ हैं। जो साहित्य का समाजशास्त्र जिस समाजशास्त्रीय पद्धति को अपनाता है उसके अनुरूप उसका स्वरूप भी बनता है। इसलिए जितने प्रकार के समाजशास्त्र हैं उतने ही प्रकार के साहित्य के समाजशास्त्र भी दिखाई पड़ते हैं। यही कारण है कुछ लोग साहित्य का समाजशास्त्र के बदले साहित्य के समाजशास्त्र की बात करते हैं। समाजशास्त्र की सबसे पुरानी पद्धति विधेयवादी है। उसका अपना साहित्य का समाजशास्त्र है जो तेन के लेखन में मौजूद है। विधेयवाद का अद्यतन रूप अनुभववाद है। आजकल साहित्य के समाजशास्त्र की एक धारा उसका अनुकरण करती हुई विकसित हो रही है। फ्रांस के रोबेर् एस्कार्पी इसके मुख्य प्रतिनिधि हैं। संरचनावाद ने समाजशास्त्र को भी प्रभावित किया है। गोल्डमान का साहित्य का समाजशास्त्र संरचनावाद से प्रभावित है। समाजशास्त्र का एक प्रकार संरचनात्मक कार्यात्मक समाजशास्त्र भी है जिसकी मदद से साहित्य का समाजशास्त्र विकसित करने का प्रयास जॉन हाल ने किया है। आलोचनात्मक समाजशास्त्र के साथ उसका विशेष प्रकार का साहित्य का समाजशास्त्र जुड़ा हुआ है जिसके प्रतिनिधि लिओ लावेंथल हैं। इन सबके साथ ही मार्क्सवादी समाजशास्त्र और उसके अनुसार साहित्य का समाजशास्त्र भी विकसित हो रहा है। ऐसा प्रयास रेमण्ड विलियम के लेखन में दिखाई देता है। इस तरह साहित्य का कोई एक समाजशास्त्र नहीं है।<sup>12</sup>

साहित्य के समाजशास्त्र का इतिहास विशेष पुराना नहीं है। बकौल बच्चन सिंह, 'साहित्य का समाजशास्त्र बीसवीं शताब्दी का पौधा है।' कुल मिलाकर यह कहना उचित है कि यह अभी विकासशील अवस्था में है। फिर भी साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन को साहित्य की व्याख्या मात्र हरगिज नहीं माना जा सकता। यह वास्तव में साहित्य को उसकी समग्रता में देखता है। साहित्य, साहित्यकार, पाठक के समाज का वर्णन विश्लेषण साहित्य के समाजशास्त्र का प्रमुख अंग है। जहाँ तक बात इसके इतिहास की है तो, "इसका आविर्भाव 17 18वीं शती में बताया गया है। इस संदर्भ में विशेष उल्लेख नाम 'मादम द स्ताल' (1766 1917)। इससे पहले विको अपनी पुस्तक नया विज्ञान (1725) में तथा हर्डर (जर्मन दार्शनिक) समाज और साहित्य के संबंधों की चर्चा कर चुके थे। एलन स्विंगवुड ने मादाम को विशेष महत्त्व दिया है।"<sup>13</sup> इस संबंध में अगला नाम प्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक तेन (1828 1893) का है। इन्होंने व्यवस्थित रूप में साहित्य व समाज के संबंधों की विवेचना की। इस संदर्भ में इनकी पुस्तक 'अंगरेजी साहित्य का इतिहास' है। हालांकि साहित्य संबंधी विषय पर चर्चा करने वाले तेन पहले व्यक्ति नहीं थे। इनसे पहले भी अनेक विचारक अपने विचार प्रकट कर चुके थे। मसलन, प्लेटो, हीगेल, एडम स्मिथ, स्पेंसर आदि। मगर इनके यहाँ साहित्य संबंधी मूल्यांकन एक सिद्धांत का रूप नहीं प्राप्त कर सका था। यह काम तेन के यहाँ हुआ। "प्रायः माना जाता है कि फ्रांसीसी विचारक तेन (1828 1893) साहित्य के समाजशास्त्र के प्रवर्तक हैं। यह लगभग सच है, लेकिन यह भी है कि तेन से पहले फ्रांस में साहित्य के समाजशास्त्रीय चिंतन की एक परम्परा बन रही थी जिसका उन्होंने उपयोग किया था।"<sup>14</sup>

बहरहाल, तेन के साहित्य के समाजशास्त्र के विवेचना से पहले मादाम स्तेल के विचारों पर एक नजर डालना आवश्यक है "मादाम स्तेल ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है, 'मैंने साहित्य पर धर्म, नैतिकता और कानून के प्रभाव तथा उन सब पर साहित्य के प्रभाव की जाँच परख का प्रयोग किया है।"<sup>15</sup> डॉ. मैनेर पाण्डेय लिखते हैं कि "मादाम स्तेल ने साहित्य के स्वरूप और शैली पर प्राकृतिक परिवेश और प्रजाति के प्रभाव का विवेचन किया है।

‘आगे इन्होंने मादाम स्तेल की मान्यताओं का उल्लेख किया है जो वाकई महत्त्वपूर्ण है पहला राजनीति से साहित्य की निकटता पर जोर।’ मादाम स्तेल की राय है कि प्रत्येक समाज के साहित्य का अपने समय के राजनीतिक विश्वासों से गहरा परिचय और संबंध होना चाहिए। समकालीन फ्रांसीसी साहित्य पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि फ्रांस की राजनीति में उभरती जनतांत्रिक चेतना की, फ्रांसीसी साहित्य में अभिव्यक्ति जरूरी है। उस समय फ्रांसीसी साहित्य में आम जनता को विशेषतः किसानों को उपहास का पात्र समझा जाता था। उनको केवल कॉमेडी पात्रों के रूप में साहित्य में जगह मिलती थी। इस प्रवृत्ति का विरोध करते हुए मादाम स्तेल ने लिखा कि साधारण जनता और किसानों को ट्रेजडी जैसे गम्भीर विधा की रचनाओं में प्रधान पात्रों के रूप में लाना जरूरी है। उन्होंने साहित्य में महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तनों की अभिव्यक्ति की मांग करते हुए न्याय और स्वतंत्रता के लिए चलने वाले आंदोलनों में चित्रण को आवश्यक माना।<sup>16</sup> मादाम स्तेल की दूसरी मान्यता है कि “समाज में नारी की स्थिति से उपन्यास के विकास का गहरा संबंध है। उनके अनुसार पुराने जमाने में स्त्रियों की सामाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी, उनके हीन समझा जाता था और स्त्री पुरुष के भावनात्मक संबंधों को बहुत कम महत्त्व दिया जाता था।<sup>17</sup> उनकी तीसरी स्थापना का संबंध उपन्यास की कला से है। ‘उनके अनुसार उपन्यास आधुनिक युग के नए दृष्टिकोण की कला है, वह नई यथार्थ चेतना की देन है।<sup>18</sup>

मादाम स्तेल की मान्यताओं को तेन ने आगे बढ़ाया। मगर उनसे कुछ बातें छूट गईं। तेन की दृष्टि ‘प्रजाति, काल और पर्यावरण के त्रिकोण’<sup>19</sup> पर आधारित है। वे रचना (कला या साहित्य) को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आंकने के आग्रही हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से की गई जाँच से कला या साहित्य की विशेषताएँ ठीक ठीक ज्ञात होती हैं, यह निराधार कल्पना से ऊपर जो पद्धति अपनाई है वह अब सभी नैतिक विज्ञानों में चल रही है। उसके अनुसार सभी मानवीय उत्पादन और विशेष रूप में कलात्मक उत्पादन तथ्य और घटनाएँ हैं जिनकी विशेषताओं की पहचान और कारणों की खोज आवश्यक है। इससे अधिक कुछ नहीं। वैज्ञानिक दृष्टि ने किसी वस्तु की निन्दा करती है न प्रशंसा; वह विशेषता बताती है और व्याख्या करती है। वह यह भी नहीं कहती कि उच्च कला बहुत भद्दी है इसलिए उसे मत



देखो और इटली की कला से प्रेम करो। इसी तरह वह नहीं कहती कि गाथिक कला से घृणा करो और ग्रीक कला से प्यार। वह हर व्यक्ति को उसकी अभिरुचि, मानसिकता और समझ के अनुसार कला को अपनाने और उसका अनुशीलन करने की छूट देती है। वह हर तरह की कला को, यहाँ तक कि परस्पर विरोधी ढंग की कलाओं को भी सहानुभूति ढंग से देखती है और उन्हें मानव चेतना की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ मानती हैं।<sup>20</sup>

निर्मला जैन का मानना है कि "मादाम द स्ताल और हर्डर की ही तरह तेन भी साहित्य का संबंध समाज की आर्थिक बुनियाद में खोजते हैं। अपने अंगरेजी साहित्य की इतिहास की भूमिका में तेन ने लिखा है कि साहित्यिक रचना 'कल्पना की मात्र वैयक्तिक 'क्रीड़ा नहीं होती, किसी उत्तेजित मानस की अलग भटकी तरंग भी नहीं, बल्कि वह समसामयिक आवरण की प्रतिलिपि होती है जिसे हम एक विशेष प्रकार की मानसिकता की अभिव्यक्ति कह सकते हैं।<sup>21</sup> तेन के साहित्य के समाजशास्त्र के स्वरूप के बारे में डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने भी इस बात को लक्ष्य किया, 'तेन को साहित्य के भौतिक आधार और सामाजिक स्वरूप के बारे में कोई संदेह न था। उन्होंने अंगरेजी साहित्य के इतिहास की भूमिका में लिखा है कि कोई साहित्यिक कृति न तो एक व्यक्ति की कल्पना की क्रीड़ा होती है न किसी उत्तेजित मन की भटकी हुई, अकेली तरंग। वह समकालीन रीति रिवाजों का पुनर्लेखन है और एक विशेष प्रकार के मानस की अभिव्यक्ति। हम महान रचनाओं से यह जान सकते हैं कि किसी समय और समाज में मनुष्य कैसे सोचता है और अनुभव करता है। उनके सामने समस्या थी समाज से साहित्य के वस्तुपरक व्याख्या करने की। इस समस्या के समाधान की प्रक्रिया में उनका साहित्य का समाजशास्त्र विकसित हुआ। उनके साहित्य के समाजशास्त्र के चार मुख्य पक्ष हैं (1) साहित्य के भौतिक सामाजिक मूलाधार की खोज, (2) लेखक के महत्त्व को विश्लेषण, (3) साहित्य में समाज के प्रतिबिम्ब की व्याख्या और (4) साहित्य का पाठक से संबंध।<sup>22</sup> उनकी समाजशास्त्रीय पद्धति रचना, लेखक और सामाजिक परिस्थितियों में से किसी एक की भी उपेक्षा नहीं करती, 'तेन की समाजशास्त्री पद्धति तथ्य (कृति) से चेतना (लेखक) की ओर बढ़ती है और चेतन से उसके निर्माण की परिस्थितियों की ओर।<sup>23</sup> डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है "तेन के साहित्य के समाजशास्त्र का

प्रस्थान बिंदु है साहित्य के मूलाधार की खोज। वे साहित्यिक कृतियों को सामाजिक तथ्य या घटनाएँ मानते हैं और उनकी उत्पत्ति के कारणों की खोज करते हैं। यहाँ उनका कार्य कारण सिद्धांत काम करता है। उन्होंने लिखा है कि तथ्यों के बाद हमें कारणों की खोज करनी चाहिए। तथ्य चाहे नैतिक हों या भौतिक सबके कारण होते हैं। महत्वाकांक्षा, साहस सत्य आदि सबके कारण हैं। जैसे पाचन क्रिया और मांस पेशियों की गतिशीलता के कारण हैं।<sup>24</sup> तेन के समाजशास्त्र के महत्त्व के बारे में डॉ. मैनेजर पाण्डेय हैरी लेविन का हवाला देकर लिखते हैं, "हैरी लेविन ने ठीक ही लिखा है कि तेन के इतिहास (अंग्रेजी साहित्य का इतिहास) ने हमेशा हमेशा के लिए यह मान्यता ध्वस्त कर दी कि पुस्तकें आसमान में उल्काओं की तरह गिरती हैं। तेन के बाद कोई साहित्य के सामाजिक आधार की उपेक्षा भले ही करे लेकिन उस सच्चाई को अस्वीकार करना कठिन है।"<sup>25</sup>

'साहित्य का समाजशास्त्र' में तेन के बाद लियोलावेथल का विवचन है। "लावेथल साहित्य में समाज की खोज करने वाले समाजशास्त्री है।"<sup>26</sup> जेल से अपने बेटे देलियो के नाम अन्तोनियो ग्रामशी एक चिट्ठी में लिखते हैं कि "दुनियां में तमाम लोग जो समाज में काम करने, संघर्ष करने और अपने आपको बेहतर बनाने के लिए इकट्ठा हो गये हैं, उनके बारे में विचार करना किसी भी दूसरी चीज के मुकाबले तुम्हें अधिक खुशी देगा।"<sup>27</sup>

लावेथल की दृष्टि भी ऐसे ही दृष्टिकोण वाले साहित्य को सच्ची कला करती है, "सच्ची कला में प्रायः पराजितों की आवाज और उनकी विजय की आकांक्षा व्यक्त होती है। अच्छा साहित्य वही होता है जिसमें सामाजिक ऐतिहासिक अनुभवों की गहरी अभिव्यक्ति होती है और मानव जीवन की दशाओं के बारे में अन्तर्दृष्टि देने की क्षमता होती है।"<sup>28</sup> डॉ. मैनेजर पाण्डेय का यह भी मानना है कि लावेथल ने साहित्यिक रचनाओं के ग्रहण, बोध और प्रभाव के अध्ययन की पद्धति का विकास किसी भी दूसरे समाजशास्त्री की तुलना में अधिक गम्भीर और व्यवस्थित रूप में किया है।<sup>29</sup> यही नहीं उनके बारे में निष्कर्ष यह है कि "उसमें साहित्य के इतिहास और समाजशास्त्र की वह एकता है जो तेन के यहाँ भी नहीं मिलती है। उनके चिंतन में जो समग्रता है वह बाद के समाजशास्त्रियों में नहीं मिलती।"<sup>30</sup>

‘साहित्य के समाजशास्त्र’ में उत्पत्तिमूलक संरचनावाद का सिद्धांत लूसिए गोल्डमान ने दिया। बच्चनसिंह का मानना है कि साहित्य का समाजशास्त्र घटिया दर्जे की रचनाओं के लिए ज्यादा उपयोग है। यही नहीं घटिया दर्जे की रचनाओं से ही उसके अभिप्रायः की पुष्टि में मदद मिलती है। श्रेष्ठ रचनाओं में कई स्तर पर ‘मिडिएशन’ होता है जो इस प्रकार के समाजशास्त्रीय अध्ययन की पकड़ में नहीं आ सकता। साहित्य अपने देशकाल की सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ अनन्य कालों के लिए प्रासंगिक और प्रिय होता है, यह अध्ययन इसे नहीं छूता।<sup>31</sup> इस धारणा को गोल्डमान खारिज करते हैं, “प्रायः साहित्य के समाजशास्त्र पर आरोप लगाया जाता रहा है कि वह साधारण और सतही साहित्य के लिए अधिक उपयुक्त है। इसके ठीक विपरीत गोल्डमान ने केवल महानसाहित्य को ही अपने समाजशास्त्रीय विवेचन का विषय बनाया है।<sup>32</sup>”

डॉ. मैनेजर पाण्डेय गोल्डमान की दृष्टि की अर्थवत्ता इस बात में खोजते हैं कि “1966 में ज्यों जेने का ‘रंगमंच’ शीर्षक लेख में उसके नाटक ‘परदे’ को समकालीन फ्रांसीसी रंगमंच की दुनियाँ में पहला आशावादी नाटक मानते हुए गोल्डमान ने सवाल किया था कि ‘परदे’ का रंगमंच एक आकस्मिक घटना है या बसंत के आगमन का संदेश। क्या यह हमारे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में किसी नए मोड़ का संकेत है गोल्डमान ने इस भविष्यदर्शी प्रश्न का उत्तर दो साल बाद मई 1968 के अभूतपूर्व छात्र विद्रोह के रूप में सामने आया।<sup>33</sup> ‘परदे’ के बारे में गोल्डमान के इस कथन और दो साल बाद हुए व्यापक छात्र आंदोलन को मैनेजर पाण्डेय, उनकी दूरदर्शिता का परिणाम मानते हैं, “यह उनकी दूरदर्शी समाजशास्त्रीय दृष्टि का सबूत है जो साहित्य का विश्लेषण करती हुई समाज के इतिहास की गति का पूर्वाभास दे सकी।<sup>34</sup>” यही नहीं डॉ. मैनेजर पाण्डेय गोल्डमान के बारे में यह भी लिखते हैं कि गोल्डमान केवल साहित्य के समाजशास्त्री नहीं हैं, वे दर्शन, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की विवेक यात्रा करते हुए साहित्य चिंतन की ओर आये। इसीलिए उनके चिंतन में ऐसी व्यापकता है जो केवल साहित्यसेवी समाजशास्त्रियों के चिंतन में नहीं मिलती।..... उनका ‘उत्पत्तिमूलक संरचनावाद’ केवल साहित्य के समाजशास्त्र का सिद्धांत नहीं है वह एक तरह से संस्कृति के समाजशास्त्र का सिद्धांत है जिसमें संस्कृति के विभिन्न रूपों की ऐतिहासिक

सामाजिक विशिष्टता के विश्लेषण की पद्धति है। गोल्डमान ने समाज से संस्कृति के ऐतिहासिक सामाजिक और सौन्दर्यबोधीय संबंधों की खोज की दृष्टि विकसित की है।<sup>35</sup>

साहित्य के समाजशास्त्रियों में रेमण्ड विलियम का नाम भी प्रमुखता से लिया जाता रहा है। "समाज से संस्कृति और उसके विभिन्न रूपों के संबंधों पर विचार करने वाले वे ही लेखक महत्त्वपूर्ण होते हैं जिन्हें समाज और संस्कृति के क्षेत्र में ऐसे परिवर्तनों का बोध होता है। ऐसे लेखक संस्कृति संबंधी चिंतन का मार्ग दर्शन करते हैं। उनका लेखन वर्तमान के लिए प्रासांगिक और भविष्य के लिए सार्थक सिद्ध होता है। रेमण्ड विलियम ऐसे ही विचारक और लेखक हैं।"<sup>36</sup> यही नहीं जिन लेखकों ने जन संस्कृति को ध्यान में रखकर लेखन किया उनके महत्त्व को रेमण्ड विलियम ने पहचाना, "अंग्रेजी के वर्ड्सवर्थ और शैली जैसे कवियों ने इंग्लैण्ड के समाजवादियों और मार्क्सवादियों से पहले समाज संस्कृति और साहित्य पर पूँजीवाद के प्रभावों से पहले समाज संस्कृति और साहित्य पर पूँजीवाद के प्रभावों की जैसी आलोचना की थी और जनसंस्कृति के विभिन्न रूपों और पक्षों के प्रति अपनी गहरी आत्मीयता व्यक्त की, उसके मूल्य और महत्त्व को रेमण्ड विलियम ने पहचाना। इसलिए जनजीवन और जनसंस्कृति संबंधी उनके दृष्टिकोण में जगह जगह स्वच्छंदतावादियों की दृष्टि की झलक मिलती है।"<sup>37</sup> साथ ही इनके लेखन में पूँजीवादी समाज की वास्तविक स्थितियों की कड़ी आलोचना के साथ साथ भविष्य के बंचित समाज की संभावनाओं की तलाश सर्वत्र दिखाई देती है। वे अपने समकालीन लेखन में भविष्य की चेतना के अभाव से चिंतित रहे हैं और उस कमी को पूरा करने का प्रयास 'लम्बीक्रांति में ही नहीं '2000 की ओर' नामक पुस्तक में भी किया है।"<sup>38</sup>

हिन्दी में साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की परम्परा अभी विकासशील अवस्था में है। यूरोप की तरह भारत में साहित्य का समाजशास्त्र अपना अलग व्यक्तित्व अभी नहीं प्राप्त कर पाया है। यह मुख्यतः आलोचना के साथ साथ विकसित होता रहा है। "हिन्दी में साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन के स्वरूप और प्रयोजन के बारे में अनिश्चय की स्थिति का अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि समाजशास्त्रीयता का प्रयोग कभी गाली के रूप में होता है और कहीं

अलंकार के रूप में। बहुत पहले शिवदान सिंह चौहान ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को एकांगी समाजशास्त्री दृष्टिकोण का इतिहास लेखक घोषित किया था... पचास के दशक में शिवदान सिंह चौहान और रामविलास शर्मा के बीच बहस में समाज शास्त्रीयता का प्रयोग प्रायः गाली की तरह हुआ। कभी कभी उसे अधिक कटु बनाने के लिए उसके साथ एकांगी या कुत्सित विशेषण जोड़ लिया जाता था। जहाँ ज्ञान के किसी अनुशासन के बारे में सोच की दशा ऐसी हो वहाँ विकास की क्या सम्भावना हो सकती है ? हिन्दी में साहित्य का समाजशास्त्र अब भी आरोप प्रत्यारोप या अधिक से अधिक संदेह का विषय बना हुआ है।<sup>39</sup>

भारतीय साहित्य में काव्यशास्त्र की एक लम्बी और समृद्ध पम्परा रही है। बात जहाँ तक उसके वर्ण्य विषय की है तो अगर नाट्यशास्त्र को छोड़ दें तो यह महज कृति तक की केन्द्रित है। कहने का मतलब यह है कि काव्य शास्त्र कृति के गठन, बुनावट रूप सौन्दर्य आदि के विवेचन तक ही सीमित है।

“परवर्ती संस्कृत काव्यशास्त्र में समाज से स्वतंत्र वस्तु के रूप में कृति की आंतरिकता, उसकी आत्मा और उसके शरीर के सौंदर्य का विवेचन प्रधान है। संस्कृत काव्यशास्त्र कृति केन्द्रित है। उसमें कवि और कृति के चारों ओर मौजूद व्यापक समाज का काव्यशास्त्री के लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं है। वह कृति को एक आत्मनिर्भर रचित वस्तु के रूप में देखता है इसलिए उसकी आंतरिक बुनावट और रूप के सौंदर्य पर अधिक ध्यान देता है। कृति में व्यक्त समाज उसकी व्याख्या का विषय नहीं है।”<sup>40</sup>

आधुनिक हिन्दी आलोचना में समाजशास्त्रीय अध्ययन के बीज, बालकृष्ण भट्ट लिखित निबंध ‘साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है’ में देखा जा सकता है। बालकृष्ण भट्ट ने अपने इस निबंध में साहित्य के समाजशास्त्र का वैचारिक ढाँचा खड़ा करते दिखते हैं। साहित्य को समाज से जोड़ते हुए उन्होंने लिखा है कि “साहित्य यदि जन समूह (nation) के चित्त को चित्रपट कहा जाए तो संग्रह है। किसी देश का इतिहास पढ़ने से केवल बाहरी हाल हम उस देश का जान सकते हैं पर साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय समय के आभ्यन्तरिक भाव हमें परिस्फुट हो सकते हैं। “गौरतलब है कि कई प्रसिद्ध आलोचक, हिन्दी आलोचना के विकास में भी इस निबंध के ऐतिहासिक महत्त्व को रेखांकित करते हैं। आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल का प्रसिद्ध कथन "प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब है "का बीज स्रोत बालकृष्ण भट्ट का उपर्युक्त उद्धृत प्रसिद्ध निबंध ही है।

साहित्य और समाज को लेकर श्यामसुंदरदास का मानना है कि "किसी कवि या ग्रंथकार पर तीन बातों का प्रभाव पड़ता है, वे तीन बातें हैं जाति, स्थिति और काल। जाति से हमारा तात्पर्य किसी जनसमुदाय के स्वभाव से है जो जनसमुदाय पर अपना प्रभाव डालती है और काल से तात्पर्य इस समय की जातीय विकास की विशेषता से है।"<sup>41</sup> निस्संदेह यहाँ डॉ. श्यामसुंदर दास के विचार तेन की प्रजाति, परिवेश और युग के सिद्धांत के करीब दिखाई पड़ते हैं।

साहित्य की सामाजिक दृष्टि का सुसंगत विचार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के यहाँ मिलता है। वे लिखते हैं, "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखलाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसंसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है।"<sup>42</sup> यही नहीं आचार्य शुक्ल ने समाज से साहित्य के संबंध के एक और पक्ष पर ध्यान दिया है, "उन्होंने साहित्य के विकास में पाठकों की रुचि की भूमिका की व्याख्या करते हुए लिखा कि हिंदी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ।"<sup>43</sup> वास्तव में जब आचार्य शुक्ल साहित्य के बारे में अपने विचार रख रहे थे तो पं. बालकृष्ण भट्ट और महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि की साहित्य संबंधी धारणा सामने आ चुकी थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पश्चात् साहित्य संबंधी धारणा को आगे बढ़ाने का श्रेय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को है। इनके अनुसार, 'साहित्य गतिशील सांस्कृतिक प्रवाह का अंग है। द्विवेदी जी यह मानते हैं कि सामाजिक विकास से साहित्य का विकास 'समाजसंस्कृति और साहित्य की विकास प्रक्रियाओं के आपसी

संबंध के स्वरूप को समझे बिना साहित्य के इतिहासलेखन का महत्त्वपूर्ण दायित्व पूरा नहीं हो सकता। आचार्य द्विवेदी ने समाज, संस्कृति और साहित्य के विकास के आपसी संबंध के बारे में जिस धारणा का विकास किया है वह आधुनिक और वैज्ञानिक है।<sup>44</sup> 'मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है' शीर्षक निबंध में उन्होंने साफ साफ कहा है, "मैं साहित्य को मनुष्य की दृष्टि से देखने का पक्षपाती हूँ, जो वाग्जाल मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षता से बचा न सके, जो उसकी आत्मा को तेजोदीप्त न बना सके, जो उसके हृदय को परदुःखकातर और संवेदनशील ने बना सके, उसे साहित्य कहने में मुझे संकोच होता है।"<sup>45</sup>

"यद्यपि द्विवेदी जी ने साहित्य विश्लेषण में समाज से साहित्य के संबंध की खोज की कोई सुनिश्चित पद्धति स्पष्ट रूप में सामने नहीं आती है। फिर भी 'कबीर' (1982) नामक ग्रंथ में उन्होंने कबीर के व्यक्तित्व और उनकी कविता को कबीरकालीन समाज में जोड़कर देखा है। उन्होंने कबीर के व्यक्तित्व और उनकी कविता की विशेषताओं को समाज के वर्गीय ढाँचे और भक्ति आंदोलन की सांस्कृतिक प्रक्रिया की उपज के रूप में व्याख्यायित किया है। उस तरह कबीर के काव्य का सामाजिक आधार अर्थ और प्रयोजन प्रकट हुआ है। साहित्य की सामाजिक दृष्टि का व्यवस्थित विकास हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना ने किया है।"<sup>46</sup>

समाज से साहित्य के संबंध में डॉ. नगेन्द्र की राय यह है कि साहित्य व समाज का यह अनिवार्य संबंध ऋजु सरल न होकर अनिश्चित और जटिल होता है। साहित्य के दो मूल कारण प्रस्तुत किये हैं। पहला कारण ऐतिहासिक है और वह यह है कि कलाकार तथा समाज का एक दूसरे के प्रति दृष्टिकोण बदलता रहता है। जिस तरह वह समाज जिसमें, रहकर कलाकार कला की सृष्टि करता है, अपने मूल्यों आदर्शों एवं परम्पराओं के साथ बदलता रहता है। उसी तरह भौतिक अस्तित्व से सम्पन्न एक जीवन्त मनुष्य होने के नाते कलाकार भी बदलता रहता है। अतः साहित्य और समाज के परस्पर संबंध इतिहास के साथ साथ बदलते रहते हैं। दूसरा कारण तात्त्विक है : वह कला की मूल प्रकृति में निहित है, जो स्वयं अनिश्चित है। प्रत्येक महान कलाकृति अपनी आरम्भिक स्थिति में विशेष किंतु परिणति की अवस्था में सार्वभौम होती है। महान, कला मानव जीवन का सार्वभौम

सत्ता की प्रतिष्ठा करती है, किन्तु इस सार्वभौम रूप की सिद्धि 'विशेष' के द्वारा ही होती है, क्योंकि कला का सृष्टा कलाकार या एक विशेष युग एवं समाज, एक विशेष संस्कृति और वर्ग के साथ सम्बद्ध होता है, कला का प्राणतत्व है सामंजस्य, किन्तु इससामंजस्य के मत में 'विशेष' और 'सार्वभौम' का द्वंद्व निहित रहता है जिसके कारण कला की मूल प्रकृति अनिश्चित एवं परिवर्तनशील बन जाती है।”

प्रो. नामवर सिंह साहित्य, समाज और लेखक तीनों को एक साथ देखते हैं, “समाज और साहित्य के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी है लेखक का व्यक्तित्व। साहित्य के रूप में समाज की जो छाया प्रकट होती है वह लेखक के व्यक्तित्व के ही माध्यम से आती है। साहित्य के निर्माण में इस बीच की कड़ी लेखक के व्यक्तित्व का बहुत महत्त्व है और यह महत्त्व इस बात में है कि एक ओर इसका संबंध समाज से है तो दूसरी ओर साहित्य से, साहित्य रचना की प्रक्रिया में समाज लेखक और साहित्य परस्पर एक दूसरे को इस तरह प्रभावित करते हैं कि इनमें से प्रत्येक क्रमशः परिवर्तित और विकसित होता रहता है समाज से लेखक, लेखक से साहित्य और साहित्य से पुनः समाज।”<sup>47</sup>

मुक्तिबोध ने साहित्य का मूल्यांकन मार्क्सवादी पद्धति से किया है। इसे कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि इन्होंने साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन का आधार मार्क्सवादी आलोचना के तहत किया। मुक्तिबोध की दृष्टि में साहित्य और जीवन के बीच गहरा संबंध है, “साहित्यिक कलाकार अपनी विधायक कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना करता है। जीवन की यह पुनर्रचना ही कलाकृति बनती है। कला में जीवन की जो पुनर्रचना होती है, वह सारतः उस जीवन का प्रतिनिधित्व करती है कि जो जीवन इस जगत् में वस्तुतः जिया और भोगा जाता है स्वयं द्वारा तथा अन्यो द्वारा। यह जीवन जब कल्पना द्वारा पुनर्रचित होता है। तब इस पुनर्रचित जीवन में, तथा वास्तविक जगत् क्षेत्र में जिये और भोगे जाने वाले जीवन में गुणात्मक अनंतर हो जाता है। पुनर्रचित जीवन जिए और भोग गये जीवन से सारतः एक होते हुए भी स्वरूपतः भिन्न होता है।”<sup>48</sup> कलाकार जब सृजन करता है तो उसे क्षणिक आवेग मात्र नहीं माना। उनकी दृष्टि में, 'कला' का रचनाकार्य रचना के क्षण विशेष तक सीमित न रहकर जीवन व्यापी हो पाता है। उनकी दृष्टि में रचना भी वही श्रेष्ठ थी, जिसमें क्षणिक मनोदशा का चित्रण न होकर अधिक से



अधिक स्थायी और व्यापक जीवन यथार्थ का चित्रण हो।<sup>49</sup> मुक्तिबोध लिखते हैं कि "हमारे सामने विशेष रूप से दो प्रकार का साहित्य उपस्थित होता है। एक वह जिसमें युग प्रवृत्तियों से संचालित नियंत्रित होते हुए भी, साहित्यकार सचेत रूप से उन प्रवृत्तियों को ग्रहण नहीं करता। इसका फल यह होता है कि वह साहित्य अपने में उन प्रवृत्तियों को ग्रहण नहीं करता। इसका फल यह होता है कि वह साहित्य अपने में उन प्रवृत्तियों का विकृत असंस्कृत प्रतिबिम्ब ही लिए रहता है। दूसरा साहित्य इस प्रकार का होता है कि उसमें युग प्रवृत्तियों के वास्तविक अभिप्राय तथा उनके निर्माणकारी अथवा विनाशकारी आशय आदि को जागरूक प्रकार से ग्रहण किया जाता है, और वर्तमान के पार मानव भविष्य को निहारा जाता है।"<sup>50</sup> मुक्तिबोध के संबंध में डॉ. मैनेजर पाण्डेय का विचार है कि "मुक्तिबोध का कामायनी विवेचन अनेक दृष्टियों से लूसिए गोल्डमान के साहित्यिक समाजशास्त्र के समान है। मुक्तिबोध की यह देन है कि उन्होंने हिन्दी में पहली बार कविता के विश्लेषण की मार्क्सवादी समाजशास्त्री दृष्टि और पद्धति का प्रामाणिक विकास किया। कविता के समाजशास्त्री विश्लेषण की परम्परा पश्चिम में भी क्षीण है।"<sup>51</sup>

बहरहाल, कुल मिलाकर देखा जाए तो हिन्दी में साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन अभी समुचित विकास नहीं कर पाया है लेकिन पाठ्यक्रमों में शामिल होने से इसमें लोगों का रुझान बढ़ा है।

## 1.2 भारतीय समाज और दलित साहित्य का समाजशास्त्र

साहित्य का समाजशास्त्र पश्चिम से हिंदी साहित्य में आया है और काफी दूर तक विकसित हो चुका है। जब से हिन्दी साहित्य के अन्तरगत दलित साहित्य आया है तब इसके भी समाजशास्त्रीय अध्ययन की बात उठनी स्वाभाविक है। इस संबंध में कुछ लोगों का यह मानना है कि दलित साहित्य का उदय अभी हाल के वर्षों में हुआ है लिहाजा उसके समाजशास्त्र की चर्चा कैसे हो सकती है? इस प्रकार के सवाल करने वाले लोगों को आंख खोलकर देखना चाहिए कि दलित साहित्य सुदृढ स्थिति प्राप्त कर रहा है। देश के कई विश्वविद्यालयों में 'दलित साहित्य अध्ययन' उच्च शिक्षा के पाठ्यक्रमों में शामिल है। विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में इन पर लगातार लेख छप रहे हैं, आत्मकथाएं कविताएं आ रही हैं, इसके अलावा इस विषय पर तमाम सेमिनार आयोजित किये जा रहे हैं। यही नहीं, यह कई विश्वविद्यालयों के शोध में शामिल है, ऐसे में इस प्रकार के प्रश्नों का कोई महत्व नहीं रह जाता। कहना न होगा आज दलित-चेतना साहित्य के क्षेत्र में 'दलित-साहित्य, संस्कृति और समाजशास्त्र के क्षेत्र में 'दलित विमर्श' एवं 'दलित-अध्ययन' तथा राजनिति के क्षेत्र में 'सामाजिक न्याय और सत्ता विमर्श' के रूप में व्यक्त हो रही है।<sup>52</sup> दलित साहित्य भारतीय समाज में व्याप्त विद्रूपता को खींचकर सबके सामने लाया है। हमारा समाज जिसे हम सभ्य मानते आये हैं, वह शोषण, हिंसा अत्याचार और असमानताओं पर आधारित है, यह दलित साहित्य को पढ़कर ज्ञात होता है। भारतीय समाज की जड़ में छिपे इन तत्वों को बाहर लाने का काम किया इसने। ब्राह्मणों ने व्यवस्था को धार्मिक रूप प्रदान कर दिया था यानी, लोगों में यह विश्वास पैदा किया गया कि उच्च और निम्न का बँटवारा ईश्वर ने किया है। अच्छे एवं धार्मिक आचरण करने वाले को ब्राह्मण और निम्न कर्म करने वाले को शूद्र की कोटि में डाल दिया गया। उन्हें सभी सामाजिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया और सारे निम्न कार्य उन्हीं को सौंप दिये गए। कहा गया कि इस जन्म में रहकर वे चारों वर्णों की निस्वार्थ सेवा करते रहे तो उनका अगला जन्म बेहतर हो सकता है। अगला जन्म बेहतर बनाने के लिए पापों से मुक्ति आवश्यक है। और यह सेवा द्वारा ही हो सकती है। हिंदुओं की बनाई इस व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह शुरू हो गए,

दलितों में चेतना आई, इस कार्य में विभिन्न समाज सुधारकों मसलन, डॉ अम्बेडकर, ज्योतिबा फूले, पेरियार आदि ने बहुत सहयोग किया और भारतीय समाज से दलितों के अधिकारों की लम्बी लड़ाई लड़ी. यही लड़ाई साहित्य जगत में भी लड़ी गयी. परम्परागत लेखन से अलग सचाई को बेनकाब करने वाले साहित्य लिखे गए. हमारे समाज ने इन्हें अछूत की संज्ञा दी और इनके साथ गुलामों की भांति व्यवहार किया. समाज से बहिष्कृत दलितों को अत्यंत दयनीय हालत में जीना पड़ता है. "कुत्ता हमारी गोद में बैठ सकता है. हमारी रसोई में निःसंग फिरता है लेकिन एक इंसान का स्पर्श हो जाए तो धर्म भ्रष्ट हो जाता है. ....जो निम्नवत् कार्य कर के हमारे लिए सुविधाओं को उपलब्ध कराते हैं, उन्हें ही हम दुरदुराते हैं. पशुओं की हम पूजा कर सकते हैं लेकिन इंसान को पास नहीं बैठा सकते हैं."<sup>53</sup> दलित साहित्य में पंडितों की इस पोथी-पत्री के तमाम ढोंगी विधानों की सचाई सामने लाई गई. उनकी बनाई इस व्यवस्था पर जोरदार प्रश्न उठाया गया तथा ऐसे समाज को सिरे से नकार दिया गया. किसी ने सही लिखा है—

अगर यह मुल्क मेरा होता  
तो मुझे नंगा न रखता  
मुझे लावारिस न रखता  
मुझे अपमानित न करता  
मुझे दुःखों की दवा सत्यनारायण की पूजा न बताता  
मुझे कल्पतरु और कामधेनु के झांसे न देता  
मुझे अपने मुल्क की तलाश है.

'दलित साहित्य का समाजशास्त्र' नामक आलेख में नन्दूराम लिखते हैं, "साहित्य में व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह की भावना अपेक्षाकृत दलित साहित्य में अधिक मुखरित है, क्योंकि दलित रचनाकार स्थापित समाज और साहित्य दोनों को नकारता है तथा बराबरी की भावना पर आधारित एक नई व्यवस्था की स्थापना की जोरदार आवाज में माँग करता है. ....यह सही है कि दलित-साहित्य में वर्णव्यवस्था पर आधारित सामाजिक शोषण के खिलाफ विद्रोह है, लेकिन दलित साहित्य को दो और अर्थों में भी समझना होगा. एक यह कि इस साहित्य ने पूरे समाज खासकर हिंदू सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह किया है क्योंकि इसने

उसका सदियों से शोषण किया है. आज का जागरूक दलित समाज एवं उसका लेखक गौर दलित साहित्य को इसलिए अपना नहीं मानता क्योंकि इसने कुल मिलाकर हिन्दू व्यवस्था का प्राचीन तरीके से समर्थन किया है.<sup>54</sup> दलित साहित्य में जिस नए समाज के निर्माण की बात है वह शोषण की बुनियाद पर नहीं खड़ा है, भारतीय सामाजिक व्यवस्था की बुराइयों को उसने उघाड़कर सामने किया है, इसके अलावा एक ऐसा समाज बनाने की मांग की जो हिंसा, अत्याचार अपमान आदि से मुक्त हो. उनके समाज में मानवता का भाव सर्वोपरि है. किसी को सताने का अथवा उसे अधिकारों से वंचित रखने की बात नहीं की गई है. भले ही तथाकथित उच्च जातियों ने दलितों पर अनगिनत अत्याचार किए लेकिन दलित समाज ने व्यवस्था को पलटकर उनपर अत्याचार करने की बात सोची तक नहीं. वे तो बस इतना चाहते हैं कि मानवता से पूर्ण समाज का निर्माण किया जाए. 'दलित साहित्य के सामाजिक सरोकार' नामक आलेख में लिखा गया कि असल में दलित साहित्य का उद्भव ही सामाजिक सरोकार के लिए हुआ है, उसके सामने दलित ही नहीं सम्पूर्ण मानवता थी. विषय परिस्थितियों ने उसे चुनौती दी. वर्णव्यवस्था की रूढ़ियों ने उसे और तीखा बनाया. रैदास से लेकर नवें दशक की दलित कविता को पढ़कर यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि सम्पूर्ण दलित कविता अपमानित पीढ़ियों की पीड़ा से उपजी है.<sup>55</sup> वाकई में सदियों से जिस अपमान का दंश दलित समाज ने झोला है उसका अन्दाजा लगाना बेहद कठिन है. हमारी व्यवस्था कैसी है? जानने के लिए हमें दलितों के अनुभव जानकर ही सही पता चल सकता है. उनके लिखे गए साहित्य से सही अर्थों में भारतीय समाज की तसवीर दिखाई पड़ती है. "वास्तव में ये दलित साहित्य ही है जिसके, अध्ययन के पश्चात किसी भी समाज का वास्तविक अध्ययन हो सकता है. यदि दलित साहित्य नहीं होता तो यह जान पाना असम्भव होता कि हमारा सामाजिक इतिहास किन पीड़ाओं, तकलीफों, अन्यायों, शोषणों और असमानताओं का इतिहास है<sup>56</sup>. इस पीड़ा को धर्मवीर चाहते हैं कि साहित्य में खुलकर बयान किया जाय. उस पर किसी प्रकार का दबाव न हो, ताकि साहित्यिक स्वास्थ्य बना रहे, सामाजिक और साहित्यिक स्वास्थ्य के लिए भी अच्छा यही है कि दलित साहित्य पर कोई दबाव बनाने या उसके खिलाफ नाकेबन्दी खड़ी करने के बजाय उसे उसके असली रूप में आने दिया जाय. क्योंकि

देश आज भी तीन हजार सालों के बाद मूकों की बात सुनने के लिए तैयार नहीं है? क्या यह भारतीय समाज विचार के स्तर पर अभी भी इतना असहिष्णु और पिछड़ा हुआ है कि दलित साहित्य को वैष्णव भाषा में पढ़ना चाहता है।<sup>57</sup> दलित साहित्य की भाषा पर लम्बा विवाद रहा है। लेकिन यह सही है कि समाज की विद्रूपता इन्हीं शब्दों से ही अभिव्यक्ति पा सकती है तो इसमें गलत क्या है और सबसे बड़ी बात तो यह कि दलित साहित्य में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह सब सवर्ण समाज द्वारा दलितों के लिए ही तो प्रयोग किया जाता है। उन वीभत्स शब्दों को छुपाकर आखिर उनकी सचाई सामने लाएं तो कैसे। सबसे बड़ी बात तो यह कि इससे सवर्ण समाज की मानसिकता में व्याप्त गन्दगी सामने आ जाती है इसलिए वे इतना शोर मचाते हैं। "जय प्रकाश कर्दम 'मुझसे जन की भाषा में बतियाओ' कविता में उस भाषा की बात करते हैं जिसे अनपढ़ दलित समाज भी समझ सके।

मेरे दोस्त मेरे लिए  
 उस भाषा में शुभकामनाएं मत करो  
 जो भाषा  
 कभी मेरी नहीं रही  
 जिसके लिए रहा मैं सदैव  
 अंत्यज, अस्पृश्य  
 मुझे नफरत है  
 उस भाषा के संस्कारों से  
 इसलिए मेरे दोस्त  
 उस भाषा में अभिनन्दन कर  
 मेरा अपमान मत करो  
 मुझे उस भाषा में  
 संबोधित कर मत बुलाओ  
 मैं देव नहीं जन हूँ  
 मुझसे जन की भाषा में बतियाओ।<sup>58</sup>

1997 में भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में अपने वक्तव्य के दौरान वीर भारत तलवार ने कहा था कि 1933 में मुल्कराज आनन्द ने 'अछूत' उपन्यास में या इधर जगदीश चन्द्र ने 'धरती धन न अपना' में पंजाब के एक दलित की मानसिक यातना, अंतर्द्वन्द्व और आकांक्षाओं तथा संघर्ष का जैसा चित्रण किया है वैसा खुद किसी दलित लेखक ने अब तक नहीं किया. सहानुभूति से लिखा गया साहित्य ज्यादा प्रभावशाली हो सकता है अगर उसके लेखक की साहित्यिक क्षमता ज्यादा हो, दृष्टि और संवेदनशीलता ज्यादा गहरी हो. साथ ही वे यह भी कहते हैं, लेकिन इससे अपने भोगे हुए को लिखने वालों के साहित्य का महत्व जरा भी कम नहीं होता. दलित साहित्य का सबसे बड़ा महत्व इसमें है कि उसे खुद दलितों ने लिखा है.<sup>59</sup> वीरभारत की साहित्यिकता वाली बात का समर्थन करते हुए मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं कि उनकी बात बिल्कुल सही है और वाजिब भी. सवाल उठता है कि जिन्हें कभी पढ़ने लिखने नहीं दिया गया, हमेशा बेरहमी से दबाकर रखा गया, वे अगर अपनी किसी रचना में साहित्यिक प्रतिभा दिखलाएं भी तो किन शब्दों में. जिन दलितों की आजादी के बाद भी गांव, बस्ती, शमशान और पनघट भी अलग रहें, वे कौन सी भाषा का प्रयोग करें. जिनकी मां बहिन तथा बेटियों पर बेरहमी से अत्याचार और बलात्कार होते रहे, वे लिखें तो किस शैली में. शायद यही कारण रहा होगा कि सवर्ण साहित्यकारों/ कथाकारों/ समीक्षकों के द्वारा थोपे गए सौंदर्यशास्त्र को दलितों ने सिरे से नकारा. फिर बेहतर, सुन्दर सुनार की तरह नक्काशी जैसे साहित्य का सर्जन वे कैसे कर पाते.<sup>60</sup> दलित साहित्य मूलतः समाज के स्वरूप को सामने लाने का प्रयास है, इसलिए वह जिस रूप में समाज की सचाई दिखा सके, उसे दिखाना चाहिए. इसके लिए सुन्दर शब्दों वर्णों की अपेक्षा नहीं करनी चाहिए. आखिर जितने सुन्दर शब्दों की बात की जाती है, वे समाज द्वारा प्रयुक्त तो होते नहीं, शूद्रों, दलितों के लिए तमाम अपमानजनक भाषा का इस्तेमाल सवर्ण समाज करता रहा है, तो जिस भाषा में अपमान होगा अभिव्यक्ति भी उसी भाषा में होनी चाहिए. दलित साहित्य के बारे में शरणकुमार लिम्बाले लिखते हैं, कि जो साहित्य मूलतः जागृति के लिए ही लिखा गया है, क्या उससे परिवर्तन की जगह आनन्द या सौन्दर्य की अपेक्षा करना उचित है? दलित लेखकों का यह मानना है कि उसके साहित्य की

समीक्षा समाजशास्त्रीय दृष्टि से होनी चाहिए और समाजशास्त्रीय समीक्षा में सौंदर्य की अपेक्षा सामाजिक मूल्यों की चर्चा अधिक होनी लाजमी है।<sup>61</sup> दलित साहित्य के लिए कृष्णदत्त पालीवाल अत्यंत कठोर शब्द का इस्तेमाल करते हैं। उनके अनुसार दलित साहित्य की अवधारणा में 'शतघृणावर्त तरंगभंग उठते पहाड' वाला उत्साह अधिक है। उनका एक ही नारा है— ब्राह्मणवादी साहित्य को हर कीमत पर पछाड़कर चकनाचूर करना है। इसलिए उनके साहित्य में आवेश आक्रोश बहुत कम है— संयम कम। यह साहित्य फूला-फूला मिलता है— ठोस सृजन का अहसास कम कराता है।<sup>62</sup> यहां कृष्णदत्त पालीवाल जी द्वारा लगाए गए आरोप बेबुनियाद हैं। दलित साहित्य अपमान से उत्पन्न खीझ आक्रोश नहीं बल्कि समाज की तसवीर लेकर सामने आता है। जितनी गालियां सवर्ण समाज ने निर्दोष दलितों को दी उस हिसाब से उनके लिए वैसी एक भी भद्दी गाली का प्रयोग इसमें नहीं है। "दलित साहित्य सच कहने लिखने का साहित्य है। परम्पराओं तथा रीति-रिवाजों को झुठलाते हुए उन्हें ठोकर लगाता है जिनके चलते हुए दलितों ने अपमान की जिंदगी जी थी। दलित साहित्य समाज को स्वस्थ बनाने पर बल देता है। वह परिवर्तन चाहता है। इसीलिए समाज के लिए यह हितकर है। दलित साहित्यकार पाठकों को कल्पना के झूठे आकाश में नहीं ले जाता, बल्कि यथार्थ की जमीन पर रखते हुए उसे समाज की सच्चाई से रू-ब-रू कराता है।"<sup>63</sup> अपने लेख 'दलित साहित्य तब और अब' में भी मोहनदास नैमिशराय दलित साहित्य को कल्पना का साहित्य मानने से इनकार कर कठोर भूमि का सच और भोगा हुआ यथार्थ बतलाते हैं, "दलित साहित्य अनेक आन्दोलनों, झंझावतों से होकर गुजरा है, यह जीवन का सच है। वह कल्पना का साहित्य नहीं है बल्कि स्वयं के द्वारा भोगा हुआ साहित्य है, फिर भी विशेष रूप में दलित साहित्यकारों को इस बहस में नहीं पड़ना चाहिए कि दलित साहित्य कौन बेहतर लिख सकता है, स्वयं दलित या सहानुभूति से लिखने वाला गैर दलित। दलित साहित्य की विभिन्न विधाओं में आई बेबाकी पीड़ा और उत्पीड़न की खौफनाक प्रक्रिया ने उस साहित्य को और अधिक ऊर्जावान बनाया है। दलितों की रचनाधर्मिता को मजबूत बनाया है, बुनाई-कढ़ाई में भले ही दलित साहित्यकार पीछे हों, लेकिन उनके शब्द आग में तपे हैं।"<sup>64</sup> ब्राह्मणों द्वारा बनाई गई व्यवस्था में शोषण है उसी का प्रतिकार है दलित साहित्य। देवताओं को पूजने वाला ब्राह्मण



मनुष्यों से घृणा करता है.ब्राह्मणों द्वारा बनाए गए तमाम शब्द प्रतीक इत्यादि निरर्थक हैं. ओमप्रकाश बाल्मीकि की कविता में इन्हीं को निरर्थक घोषित किया गया है-

“मेरी समृति में  
राक्षस नहीं  
डरावने देवता है  
जो चैन से सोने नहीं देते मुझे .....  
हर एक दिन  
चढ़ जाता है बलि  
देवताओं के थान पर  
फूटती है रक्तधार  
मेरी शिराओं से .....  
फिर भी बचा है अभी तक  
मेरा वजूद  
टूटे फूटे मिट्टी के बर्तनों की शकल में  
जो दबे पड़े हैं  
खड्गहरो के नीचे  
इतिहास बनकर  
जितना खोदोगे  
उतना गहरे पाओगे मुझे  
जितना तोड़ोगे  
ढहाओगे  
जलाओगे  
फिर भी बचा रह जाऊंगा  
चारों तरफ हवा में उड़ती  
राख की तरह  
राख से बनेगी मिट्टी  
मिट्टी से उपजेगा पौधा  
पौधे से पेड़  
पेड़ की डालें



जब हिलेंगी  
भय से थरथराओगे तुम  
दोहराओगे मंत्र  
फिर भी रह जाओगे अकेले असहाय  
देवताविहीन।<sup>65</sup>

मोहनदास नैमिशराय के उपन्यास 'मुक्तिपर्व' की सामाजिक समीक्षा में डॉ. तेजसिंह लिखा है विषमतामूलक समाज की एक एक परत उधरता चलता है लेकिन इस प्रक्रिया में वह दलितों से गहरी संवेदना और सहानुभूति रखने वाले चरित्रों की अनदेखी नहीं करता. मोहनदास नैमिशराय समाज के ऐसे अन्तर्विरोधी चरित्रों में से प्रगतिशील चरित्रों को पाठकों के सामने लाते हैं।<sup>66</sup>

ठीक यही भावना मोहनदास नैमिशराय के लेख 'दलित साहित्य तब और अब' में भी मिलती है, "दलितों के मान सम्मान हेतु साझा लड़ाई लड़ने वाले गैर दलित रचनाधर्मी अगर अपनी कविताओं, कहानियों, उपन्यासों, नाटकों और आत्मकथाओं में यह सब लाते हैं तो उन्हें कौन रोकता है? उनका स्वागत करना ही चाहिए. नई शताब्दी में भी अगर हम जाति और नस्ल के पेचीदा सवालों को मिलजुल कर हल नहीं कर पाए तो आने वाली पीढ़ी अवश्य ही सवाल दर सवाल करेगी. दलित साहित्य की उपयोगिता और सार्थकता भी इनहीं मुद्दों को लेकर है. समाज में अगर विषम परिस्थितियां हैं और सामाजिक आधार पर दलितों के साथ भेद-भाव होता है तो चाहे कोई जनवादी हो या कलावादी साहित्य, उसके समाज को क्या मिलता है? दलित साहित्य का दर्शन यह भी है. अन्ततः कहना चाहूंगा कि दलित साहित्य भारतीय समाज में विभाजन की रेखा खींचने वाला साहित्य नहीं है बल्कि कुछ परम्परावादियों / रूढ़िवादियों के भीतर पड़ी रेखाओं को मिटाने वाला साहित्य है।"<sup>67</sup>

गैर दलित लेखकों की बात छोड़ दे तो दलित साहित्य के रचनाकार स्वयं भुक्तभोगी हैं. भोगा हुआ यथार्थ इस साहित्य में उभरकर सामने आता है. इस प्रकार के साहित्य के समाजशास्त्र के द्वारा बहुत ही बुनियादी तरीके से एक ओर दलित साहित्य की चर्चा के साथ ही साथ पूरे समाज की भी चर्चा हो सकेगी. जिसमें एक ओर बदलाव और दूसरी ओर बनाने की भावना पर जोर होगा.

## संदर्भ ग्रंथ

- <sup>1</sup> साहित्य का समाजशास्त्र, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 4
- <sup>2</sup> वही, पृ. 4
- <sup>3</sup> साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पाण्डेय, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2006 पृ. 5
- <sup>4</sup> साहित्य का समाजशास्त्री चिंतन – सं. निर्मला जैन,, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय द्वितीय संस्करण 1992 पृ. 3.
- <sup>5</sup> आलोचना, जनवरी मार्च, 1988, पृ. 81
- <sup>6</sup> वही, पृ. 81
- <sup>7</sup> साहित्य का समाजशास्त्र, बच्चन सिंह, लोक भारती, प्र. 2007 पृ. 2
- <sup>8</sup> साहित्य का समाजशास्त्र, बच्चन सिंह, पृ. 7 (लोक भारती, प्र. 2007
- <sup>9</sup> साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, (xi) हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, 2006
- <sup>10</sup> वही, पृ. xii
- <sup>11</sup> साहित्य का समाजशास्त्र, नगेन्द्र, पृ. 9
- <sup>12</sup> साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, पृ. 6
- <sup>13</sup> साहित्य का समाजशास्त्र, बच्चन सिंह, लोक भारती, प्र. 2007, पृ. 1
- <sup>14</sup> साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, पृ. 7
- <sup>15</sup> वही, पृ. 117
- <sup>16</sup> साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, पृ. 118
- <sup>17</sup> वही, पृ. 119
- <sup>18</sup> वही, पृ. 119
- <sup>19</sup> साहित्य का समाजशास्त्र, बच्चन सिंह, पृ. 1
- <sup>20</sup> साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, पृ. 112
- <sup>21</sup> साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन, सं. निर्मला जैन, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय पृ. 20
- <sup>22</sup> साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, पृ. 123-124
- <sup>23</sup> वही, पृ. 124
- <sup>24</sup> वही, पृ. 124
- <sup>25</sup> साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, पृ. 129
- <sup>26</sup> वही, पृ. 134
- <sup>27</sup> समाजशास्त्र (समस्याओं और साहित्य का अध्ययन) टी.वी. बॉटमोर (ग्रंथ शिल्पी) संस्करण दूसरा, पृ. 13
- <sup>28</sup> साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, पृ. 135
- <sup>29</sup> वही, पृ. 139
- <sup>30</sup> वही, पृ. 144
- <sup>31</sup> साहित्य का समाजशास्त्र, बच्चन सिंह, पृ. 7
- <sup>32</sup> साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, पृ. 151
- <sup>33</sup> वही, पृ. 154
- <sup>34</sup> वही, पृ. 154
- <sup>35</sup> वही, पृ. 145
- <sup>36</sup> वही, पृ. 161
- <sup>37</sup> वही, पृ. 167
- <sup>38</sup> वही, पृ. 200

- 39 वही, पृ. 55
- 40 वही, पृ. 55
- 41 साहित्यालोचन,— श्यामसुंदर दास, पृ. 53
- 42 हिन्दी साहित्य का इतिहास —आ. रामचन्द्रशुक्ल , प्रकाशन संस्थान, 2005, पृ. 21
- 43 हजारीप्रसाद द्विवेदी संकलित निबंध, नामवर सिंह, नेशनल बुक ट्रस्ट 2006 पृ. 84
- 44 साहित्य और इतिहास दृष्टि, मैनेजर पाण्डेय, पृ. 135
- 45 साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, डॉ. मैनेजर पाण्डेय, पृ. 151
- 46 वही, पृ. 61
- 47 साहित्य का समाजशास्त्र, डॉ. नगेन्द्र, पृ. 11
- 48 इतिहास व आलोचना, राजकमल प्रकाशन पृ. 37-38
- 49 कामायनी एक पुनर्विचार,— ग. मा. मुक्तिबोध राजकमल प्रकाशन 2007 पृ. 10
- 50 मुमुक्तिबोध — नन्द किशोर नवल, साहित्य अकादमी,, 2006 पृ. 57
- 51 कामायनी एक पुनर्विचार, — ग. मा. मुक्तिबोध राजकमल प्रकाश 2007 पृ. 18
- 52 दलित साहित्य का समाजशास्त्र—हरिनारायण ठाकुर ,भारतीय ज्ञानपीठ, सं० 2009, पृ 11
- 53 अनभै सांचा अक्टू.—दिस. 2008 अंक 12 पृ 27
- 54 दलित साहित्य का साहित्य— नन्दूराम, राष्ट्रीय सहारा 18 जनवरी 1997
- 55 राष्ट्रीय सहारा 25 जून 2000
- 56 - दलित साहित्य का समाजशास्त्र—हरिनारायण ठाकुर ,भारतीय ज्ञानपीठ, सं० 2009 पृ 7
- 57 राष्ट्रीय सहारा 8 नव. 1998
- 58 आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श— देवेन्द्र चौबे ओरियंट ब्लैकस्वान प्रा. लि. 2009 पृ 189
- 59 इन्द्रप्रस्थ जुलाई—दिस. 2008 पृ 66
- 60 इन्द्रप्रस्थ जुलाई—दिस. 2008 पृ 66
- 61 वही, 66
- 62 वही, 67
- 63 चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य — शयौराज सिंह बेचैन : डॉ० देवेन्द्र कुमार चौबे, नवलेखन प्रकाशन सं० 2001 पृ 276,
- 64 इन्द्रप्रस्थ जुलाई—दिस. 2008 पृ 69
- 65 आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श— देवेन्द्र चौबे ओरियंट ब्लैकस्वान प्रा. लि. 2009 पृ 188
- 66 हंस अगस्त 2001 पृ 94
- 67 इन्द्रप्रस्थ जुलाई—दिस. 2008 पृ 69

अध्याय दो

‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ में भारतीय समाज और संस्कृति  
का स्वरूप

2.1 भारतीय समाज और ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’

2.2 भारतीय संस्कृति और ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’

## 2.1 भारतीय समाज और 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर'

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' की कहानी शोषणकारी भारतीय समाज की देन है। इसमें वर्णित घटना कहानी नहीं बल्कि जीवन है जो सवर्ण समाज की निदर्यता, हिंसा, शोषण व अत्याचार से जूझता है। समाज के निर्माताओं ने प्रारंभ से ही ऐसी व्यवस्था बनाई जिसमें एक बड़े तबके को सामाजिक अधिकारों से वंचित रखा।

अधिकारों से वंचित करने के पीछे उनका उद्देश्य इनसे गुलामी कराना, और इनके श्रम आदि का मनमानी उपयोग करना था। "भारत में सवर्ण पुरुष 'हम कौन थे' सरीखी पंक्तियां नहीं लिखते थे, क्योंकि सामाजिक राजनीतिक सत्ता से वंचित रहने का दुर्भाग्य उनके हिस्से में नहीं आया था। 'व्यक्ति' के रूप में कोई सवर्ण पुरुष, चाहे गरीब और निर्बल हो तो भी, लेकिन सांस्कृतिक वर्चस्व उसी का था। उसके अपने आत्मबोध में वह स्वतंत्र, सम्माननीय और श्रेष्ठ था। अछूत, हास्यास्पद, पूर्व जन्म का पापी और जात कमीना नहीं। दूसरों की निगाह में भी, सवर्ण पुरुष होना पूर्वजन्म के पुण्यों का ही प्रमाण था। किसी वजह से, किसी खास वक्त पर हासिल भले न हो, लेकिन वर्चस्व और सत्ता की दुनिया में उसकी जगह सुरक्षित अवश्य थी।" वर्णव्यवस्था में प्रथम स्थान ब्राह्मणों का था और अन्तिम दलितों का। ब्राह्मण पूजनीय थे धर्म, शिक्षा-दीक्षा का कार्य इन्हीं के जिम्मे था। शूद्रों का कार्य सवर्ण जातियों की सेवा करना था; क्योंकि ऐसा करके वे अपने अगले जन्म में बेहतर स्थिति प्राप्त कर सकते थे। 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में इसी भारतीय समाज के चरित्र को खुलकर सामने रखा गया है जिसे पढ़कर कोई यह नहीं कह सकता कि उसकी भारतीय संस्कृति महान है। समाज में जिस शोषण को धर्म का रूप देकर पूजनीय बना लिया है उसके सारे पर्दे खोलकर लेखक ने उसकी सच्चाई को प्रस्तुत किया है।

"भारत की सबसे बड़ी जाति, 'चमार' का विविधतापूर्ण और ब्राह्मण धर्म की वजह से उसमें आई कुरीतियों का वर्णन है इस आत्मकथा में। वर्णव्यवस्था का मकड़जाल तो है ही इसमें, साथ ही यह कैसे विकसित होती है इसे देखा-पहचाना

जा सकता है। जाटव (मूलतः चमार) और चमार के भेद मौजूद है पूरी आत्मकथा में। बेचैन ने किसी तरह की लाग-लपेट नहीं की है इसके वर्णन में। यहां तक कि इनके अन्तर्द्वंद्वों को ज्यों का त्यों सामने रख दिया है। श्यौराज सिंह बेचैन ने खतरों और हीनता को एक तरफ फेंक कर अपनी आत्मकथा में उन तथ्यों को सामने रखा है जिनसे अक्सर आत्मकथा लिखने वाले बचते हैं। वैसे श्यौराज के यहां सामाजिक व्यवस्था में ऐसा कुछ है भी नहीं कि जिस पर गर्व किया जाए। अमानवीय तरीके से विकसित समाज की कथा के रूप में देख सकते हैं इस आत्मकथा को। ऐसा नहीं कि यह पश्चिमी उत्तर प्रदेश की भूमि के दलित की कथा है, अलबत्ता यह पूरे भारत वर्ष में कुछेक एक बदलावों के साथ ज्यों की त्यों है। हाँ, जिन दलितों के पास कहीं थोड़ी बहुत जमीन है वहां थोड़े अलग तरीके से जातीय संबंध विकसित हुए हैं। यह आत्मकथा देश भर में दलितों के लिए जमीन की मांग को सामने रखती है। जिन खतरों की बात ऊपर है, वो है असामाजिक और अनैतिक यौन संबंध। बेचैन ने उत्तर-भारतीय गांवों में प्रचलित इन संबंधों का वर्णन बेहद सहज और सजग ढंग से किया है। इन संबंधों को लेकर लेखक का कोई पूर्वाग्रह नहीं है।

बेचैन की आत्मकथा में आए प्रसंगों से हम भारतीय समाज व्यवस्था और दलित सामाजिक जीवन का भेद आसानी से ढूँढ सकते हैं। जर्जर हो चुकी भारतीय समाज व्यवस्था और दलित नारकीय जीवन के अंतर इस कथा में है।<sup>2</sup>

भारत में दलितों के साथ दासों की भाँति का व्यवहार किया जाता है। फर्क सिर्फ इतना है कि उसे वर्णाश्रम का जामा पहना कर धर्म के ताने-बाने से इस कदर जकड़ दिया गया है कि व्यक्ति आजन्म उससे बाहर न आ सके। उस व्यवस्था पर कोई प्रश्न न उठा सके इसलिए तर्क से दूर कर इसे आस्था का विषय और ईश्वर की देन बता दिया गया। युग बीतते रहे लेकिन शोषण चक्र उसी अन्दाज में निरन्तर चलता रहा, "यह वही महान भारत है, जहां सदियों से दलितों को अच्छूत माना जाता रहा है और उन्हें मनुष्य की मर्यादा तक तक नहीं की जाती रही। दलित चेतना के इतने शोर के बावजूद अभी भी देश में सवर्ण मानसिकता हावी है। आंध्र के होटलों में आज भी तीन तरह के गिलास रखे होते हैं। ऊंची, कम ऊँची और निचली माने जाने वाली जातियों के लिए क्रमशः स्टील, कांच और प्लास्टिक

के गिलास दिए जाते हैं। जिन प्रदेशों में प्रगतिशील सरकारें हैं। वहां भी जाति भेद, अस्पृश्यता एक कड़वा यथार्थ है, बंगाल में दलितों के हाथ बनाए मिड-डे-फूड के सवर्णों द्वारा नहीं खाने जाने की खबरें अक्सर आती हैं। बंगाल के उसी वामराज में मेदिनीपुर में निचली जाति की चुनी कोटाल को उच्च शिक्षा से वंचित रखने की कितनी कोशिशें नहीं हुई ? सवर्ण शिक्षक चुनी को लगातार हतोत्साहित करते रहे, प्रताड़ित करते रहे। अन्ततः से एमएससी नहीं करने दिया गया और आत्महत्या करने को बाध्य किया गया। चुनी को आत्महत्या के लिए मजबूर करने वाले सवर्ण शिक्षकों पर कोई कार्रवाई नहीं की गई, क्योंकि माकपा की सरकार में भी सवर्ण मानसिकता सदैव हावी रही है। इसी सवर्ण मानसिकता को श्यौराज सिंह बेचैन ने शिद्दत से महसूस किया है। उनकी आत्मकथा में इस मानसिकता के कई मर्मस्पर्शी आख्यान हैं।<sup>3</sup> प्रेमपाल सिंह की शादी में बाहर कड़कती सर्दी में अकड़ने को मजबूर श्यौराज खुद को अछूत होने के कारण कितना बेबस असहाय और मजबूर महसूस करते हैं। कहते हैं, “जैसे किसी मालिक का वफादार कुत्ता घर के बाहर छूट जाए। वह कम से कम चूँ-चाँ कर शोर तो मचा सकता था, पर मैं तो खामोश था।”<sup>4</sup>

अछूत होने के कारण उन्हें कैसी-कैसी यातनाओं से गुजरना पड़ता है जिसे पढ़कर रोगटे खड़े हो जाते हैं। इन यातनाओं को झेलना जैसे मौत के मुँह में जाने जैसा है। “बारात ट्रेक्टर-ट्राली प्रार्थना ग्राउण्ड की कोने में खड़े थे। पर वे पेड़ के नीचे नहीं थे। मैं ट्राली में कुछ ओढ़ने को ढूँढ़ने के लिए घुसा था, नीचे विछाने की एक मैली-सी बरसाती पड़ी थी, बारातियों के बैठने से उस पर काफी धूल-मिट्टी चढ़ गयी थी। मैं ट्राली के एक कोने में सिमट कर बैठ गया था..... तेज बर्फीली हवा चल रही थी। .....नींद की बात तो दूर ठंड के मारे मेरी पिंडलियां काँप रही थीं। परन्तु मेरा संकोच, मेरा डर और मेरा अस्पृश्यता बोध विकल्प नहीं सोचने दे रहा था। सबेरे पाँच बजे तक मेरी हालत खराब हो गयी। आंखे सूज गयीं। हाथ पांव में जैसे पक्षाघात हो गया हो।.....अंत में डॉ० श्यौराज एक सवाल छोड़ते हैं जो हर अछूत का सवाल है – “कौन यादव था जिसके पास मैं जाकर सो जाता ? कौन अपनी रजाई में सुलाता मुझे ? कौन बिस्तर देता अछूत को ?”<sup>5</sup> अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ईमानदारी, पवित्रता (स्वच्छता) इन्द्रिय नियन्त्रण सहानुभूति,

सहिष्णुता, त्याग और तप जैसे नियमों का तो हमेशा मखौल उड़ता रहा। इन सभी नियमों का प्रयोग तो अपने कुटिल स्वार्थों की पूर्ति में किया गया। “हिन्दू धर्म में मुख्यतः तीन चीजें हैं—कर्मकाण्ड वर्ण—आश्रम व्यवस्था और तीसरी चीज है नैतिक उत्तरदायित्व, जो सभी वर्णों और आश्रमों के लिए हैं। धर्म में अंतर्निहित नैतिक तत्वों में इस ‘तीसरी चीज’ को कभी उतना महत्त्व नहीं मिला, जितना मिलना चाहिए। उलट मनुस्मृति ने धर्म के नैतिक तत्वों की खिल्ली उड़ाई और नैतिकता में सुरंगें बना दीं। उसके अनुसार, “आपद में तीन दिनों का भूखा ब्राह्मण अपने से नीची जाति के घर में चोरी कर सकता है। (16-18)

सामाजिक नियमों में एक ओर चोरी के विधान बनाए गए और दूसरी ओर पानी की बूँद-बूँ के लिए मनुष्यों को तरसा दिया। पानी बगैर कई लोगों की जान तक चली गई लेकिन दरिन्दे समाज और धर्म कर्णधारों को रंचमात्र दया भी नहीं आई। इस त्रासदी को श्यौराज ने अपने बचपन में झेला था। पानी के बहाने मौत भयानक ताण्डव कर रही थी। देखते-देखते ही कई लोग मर गए। कितना भयानक मंजर रहा होगा उस समय। डॉ. श्यौराज अपनी आत्मकथा में लिखते हैं, “बरसात के झड़ लगे थे, कुएँ की जगत न होने के कारण रास्ते से जाता बारिस का पानी कुएँ में भर गया था। बिरादरी के सभी लोग मिल कर जाटों और बामनों के ऊँची जगत वाले सुरक्षित कुओं पर गये। याचकों की मुद्रा में पानी के लिए रिरिआए। पर अस्पृश्यता का आलम ऐसा था कि एक बूँद भी पानी किसी जाट-बामन ने उन्हें नहीं दिया था। मजबूरन सभी चमारों ने गन्दा पानी पिया। ..... नतीजा किसी का उल्टी, किसी को दस्त, किसी को बुखार, हर घर में हर बच्चा बीमार। देखते-देखते कईयों की मौतें हो गई। मेरे हाथ पाँव और मुँह पर सूजन आ गयी। यहीं मेरी गठियाबाय की बीमारी में बदल गई। जीजाजी के गले में इन्फेक्शन हुआ और वही उनकी मृत्यु का कारण भी बना।”<sup>6</sup>

दलितों की नारकीय स्थिति सवर्ण समाज की देन है, जो उनके लिए अभिशाप बन कर रह गई है। श्यौराज तथा अन्य दलितों को अपना पेट भरने के लिए अभक्ष्य तक खाना पड़ता था। इतनी मजबूरी थी कि जिन्दा रह पाना कठिन था। आत्मकथा में अनेक प्रसंगों में इसका जिक्र है, जो समाज के मुँह पर कालिख



के धब्बे लगते हैं, "इन्हीं दिनों हम दुबक छिपकर 'दाँयें' चलाने वाले बैलों के गोबर से गेहूँ निकाल कर लाते थे और उन्हें धोकर अनाज छॉट लेते थे। ..... हमारे अलावा डोरी ताऊ का लम्बा परिवार मुर्दा मवेशियों का मांस खा-खाकर ही पला था।"7 दलितों के लिए गरीबी उतनी बड़ी समस्या न थी जितना कि अछूत होना। अछूत होना ही उनकी मुसीबतों का सबसे बड़ा कारण था। यही वजह थी कि उन्हें काम नहीं मिलता था। यही वजह थी कि उन्हें कुत्ते की जूठी लदोई दी जाती थी। यही वजह थी कि उन्हें सारे अधिकारों से वंचित किया गया।

"डॉ. बाबा साहब आम्बेडकर ने दलितों के पिछड़े समाज के सवालियों के मूल में जाकर जो समीक्षा की ..... डॉ. आम्बेडकर की यह मान्यता थी कि सामाजिक राजनैतिक क्रांति के लिए पहले धार्मिक क्रांति होना अनिवार्य है। यही बात हमें महान ज्योतिबा फुले के साहित्य चिंतन में दिखायी देता है। फूले ने आंदोलन की बुनियाद को ब्राह्मण धर्म की समीक्षा से शुरू किया है।"8

समाज में रहने वाले वर्चस्ववादी लोग दलितों की काबिलियत, और क्षमता से इनकार करते हैं। भारतीय समाज के विधि विधानों में दलितों को शिक्षा से वंचित करने का प्रावधान बहुत पुराना है। मनु ने विधान बनाए, "शूद्र की उपस्थिति में वेदों का अध्ययन नहीं करना चाहिए और शूद्र को दासकर्म के लिए बाध्य किया जाए। यही नहीं यह भी कहा कि अगर शूद्र के कानों में मंत्र का स्वर पड़ जाए तो उसके कानों में खौलता तेल डालना चाहिए। अगर शूद्र मंत्रोच्चार करे तो उसकी जिह्वा काट लेनी चाहिए। ऐसे समाज में शिक्षा प्राप्त करना कितना कठिन होगा, इसे सहज ही समझा जा सकता है। आज के युग में भी अगर कोई दलित वर्ग का व्यक्ति अपनी मेहनत और संघर्ष से स्थान प्राप्त करता है तो उसे केवल इस कारण अस्वीकार कर दिया जाता है क्योंकि वह दलित है। दलितों को बेहद अपमान से गुजरना पड़ता है। तरह-तरह से हतोत्साहित किया जाता है। "ऊँची जातियों के इन साहित्यिक सिपहसालारों के हाथों में अपने घोर अपमान और उपेक्षा का जवाब जाषुवा के इन शब्दों में दिया :

मेरी कविता सुंदरी की विभा को देखकर जिसने प्रशंसा की, उसी ने जाति के बारे में पूछा और उठकर चला गया तो ऐसा लगा जैसे उसने मेरी छाती में छुरी भोंक दी हो। कैसी लज्जा की बात है ?..... जो दो कौड़ी के नहीं है ऐसे ईर्ष्यालु काकों का झुण्ड कितना भी शोर मचाये, मुझे शारदा ने वरण किया, वह मुझे नहीं छोड़ेगी। मेरी कविता की अमृतधारा से वह दस सागर बना जायेगी।”<sup>9</sup> यहीं नहीं ऐसे तमाम उदाहरण भरे पड़े हैं जहां दलित वर्ग के मेधावी छात्रों का खुले आम मखौल उड़ाया जाता है – “मुम्बई की एक चाल में रहने वाले एक मजदूर परिवार के पुत्र ने जब सेकेंडरी स्कूल परीक्षा में उच्चतम स्थान प्राप्त किया तो ऊँची जाति के शहरी अभिभावाकों ने पूरी परीक्षा-प्रणाली पर ही सवाल उठा दिया कि ऐसा ‘बुद्धिहीन लड़का’ कैसे इतने अच्छे नंबरों से पास हो गया। उन्होंने कहा कि यह कैसी प्रणाली है जिसके कारण मजदूर वर्ग की पृष्ठभूमि का एक छात्र पूरे राज्य में अव्वल आ गया।”<sup>10</sup> मानो यह परीक्षा प्रणाली योग्यता की जाँच न करती हो, बल्कि उसके द्वारा दिए गए प्रमाण पत्र जाति की उच्चता और निम्नता के आधार पर दिए जाते हों।

आज समाज में दलितों की सामाजिक स्थिति चाहे जो हो, योग्यता में ये किसी से पीछे नहीं है। लेकिन एक खतरनाक स्थिति यह है कि उनकी योग्यता कम करने के लिए यह कह दिया जाता है कि भाग्य अच्छा है, अथवा इसने पूर्वजन्म में कोई पुण्य किए थे या फिर यह पूर्वजन्म में ब्राह्मण रहा होगा।

ऐसी घटनाओं के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। कबीर की योग्यता पर सवालिया निशान लगाते हुए इन ब्राह्मणों ने उन्हें विधवा ब्राह्मणी का पुत्र बताया। कबीर की महत्ता को उनकी जाति में स्वीकार नहीं की। मानों बुद्धिमान और योग्यता सिर्फ इन्हीं की जातियों में होती हो। ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ में ब्राह्मणों की इस साजिश की ओर भी ध्यान दिलाया गया है। डॉ. श्यौराज बताते हैं कि आसपास के गाँवों में हमारे घरों को अंधों का घर कहा जाता था। आज भी पड़ोसी गाँव के बुजुर्ग जब यह सुनते हैं कि मैं गंगी चमार का नाती हूँ तो तुरन्त आश्चर्यचकित होकर अंधों के घर की बर्बादी की कहानियां सुनाने लगते हैं। कई

मुझे चमत्कार का परिणाम मानते हैं और बहुत से किसी पूर्वजन्म का फल बताते हैं, पर कई जब मुझे पूर्वजन्म का ब्राह्मण बताते हैं तो मुझे क्रोध आ जाता है।”<sup>11</sup>

सवर्ण मानसिकता वाले लोग नहीं चाहते कि दलित सिर उठाकर जी सकें। इसलिए अपमान करने का कोई मौका नहीं छोड़ते। डॉ. श्यौराज ने बलबीर यादव के यहां से गेहूँ उधार लिया था जब वापस लौटाने गए तो बलबीर यादव ने उसे नहीं लिया, बल्कि उन्हें खेतों में काम करने के लिए कह दिया – “बाद में मैंने उस अनाज का मूल्य चुकाकर ब्याज के पैसे देने चाहे, पर मास्साब बलबीर ने ब्याज नहीं लिया। मैं उनका गेहूँ, उनके घर छोड़ आया था तो वे यह कह कर वापस कर दिये थे कि मैंने वापस लेने के लिए मदद नहीं की थी। बदला चुकाना है तो एकाध दिन हमारे खेतों पर भी काम कर देना।”<sup>12</sup> सवर्ण मानसिकता के बारे में डॉ. श्यौराज ने लिखा है, “कई मामलों में तो इन शूद्रों का अछूतों के प्रति व्यवहार ठाकुर-जाटों और जाटवों से भी अधिक सामन्ती था। चमार सिर उठाकर चले, चमारिन ‘भंगिन अच्छी धोती-कमीज पहने तो उनके सीने पर साँप रेंगने लगता था। जबकि ये खानपान रहन-सहन और बोलचाल सभी में अधिसंख्यक तो चमारों जैसे ही पिछड़े असंस्कृत लोग थे।”<sup>13</sup> भारतीय समाज में भेदभाव और एक दूसरे को नीचा दिखाने की भावना कूट-कूट कर भरी है. लेखक अपने जीवन प्रसंगों के माध्यम से इसे बखूबी उकेरते हैं.

## 2.2 भारतीय संस्कृति और 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर'

भारतीय समाज शोषण और भेदभाव की नींव पर खड़ा है. शोषण को स्थयित्व प्रदान करने के उद्देश्य से इसे धर्म के ताने-बाने से जकड़ दिया गया है. 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में श्यौराज सिंह बैचैन इस पर सवाल खड़ा करते हैं। मगर उनके सवाल का जवाब किसी धार्मिक पुस्तकों में नहीं है। मास्टर साहब अपने सारे घर और खेती तथा अन्य कामों के लिए मुफ्त का नौकर चाहते थे और उसे काम के बदले कुछ देना नहीं चाहते इसीलिए उसे पढ़ाई के नाम पर ले जाते हैं और यह कहते हैं कि वे उसे नौकर नहीं रख रहे। मास्टर साहब प्रवचन भी देते हैं। इस प्रवचन में उनका कितना स्वार्थ छिपा है "यह संसार मिथ्या है। तुम और मुझ जैसे ईश्वर भक्त कवियों को तो परिवारों से विरक्त होना चाहिए। जितना जल्दी हो सके घर-परिवार त्याग देना चाहिए।"<sup>14</sup> मास्टर साहब प्रवचन देते हैं और बालक सौराज से हाड़तोड़ काम लेते हैं उसके बदले में दो वक्त की रोटी मात्र। "आठवीं में पढ़ते वक्त तक मैं उनसे सहमत था किन्तु धीरे-धीरे जब मैंने पाया कि वे ईश्वर भक्त हैं, ठीक संध्या ध्यान करते हैं। नियमित व्यायाम करते हैं, सात्विक विचारों की बात करते हैं, शाकाहारी हैं; लेकिन वे मुझसे हाड़तोड़ काम क्यों लेते हैं केवल रोटी के बदले। मेरी मेहनत का दशांश भी दे दिया करें तो मेरा खर्चा चलता रहे। आखिर मुझे मेरा शोषण अखरने लगा। शोषण पाप क्यों नहीं ? ईश्वर भक्ति में किसी का दोहन क्यों शामिल है ? द्रयानन्द सवस्वती के सत्यार्थ प्रकाश। में मेरी इस समस्या का समाधान क्यों नहीं है ? पहले वर्ष उनके खेतों में गोहूँ की कटाइयाँ कीं। उसके बदले में मुझे केवल रोटी मिली।"<sup>15</sup> यहां लेखक द्वारा उठाया गया प्रश्न बड़ा अहम है कि ईश्वर भक्ति में किसी का दोहन क्यों शामिल है ? यह भक्ति करने, वालों की पोल खोल देता है। समाज ऐसे लोगों से भरा पड़ा है जिसमें लोग ऊपर से बड़े दानी, दयालु, बनने का ढोंग रचते हैं ज्यादातर ऐसे ही लोग घोर शोषक होते हैं। मास्टर साहब एक बालक को जी तोड़ काम करवाते हैं और प्रवचन यह देते हैं, "हमारे देश की वैदिक विद्या पद्धति में भिक्षा माँग कर छात्र पढ़ा करते

थे', मास्टर साहब के इस तर्क का जवाब मेरे पास मेरे पास नहीं था। क्या चमार भी भिक्षा मांग सकता है, क्या किसी गैर ब्राह्मण को भिक्षा मिल सकती है ?<sup>16</sup>

प्रवचनों, कोरे शब्दों, तमाम विधिविधानों, पाप-पुण्य की अवधारणाओं के सहारे हो तो दलितों को दबाया गया है। गरीब होने को उनका भाग्य बताया जाता है; पूर्वजन्म के पाप बताए जाते हैं। दरअसल शोषण के जाल को इतनी होशियारी और बारीक ढंग से विछाया गया है कि जाने कितनी सदियां बीत गई, इसे समझने में। जाने कितने गुमनाम शम्बूक का गला और एकलव्य का अंगूठा काटा जाता रहा। आत्मकथा में डॉ. श्यौराज सिंह बताते हैं, "मेरे पास दाल आटे की कमी होती थी। प्रेमपाल सिंह को संकट से अवगत कराता तो वे कहते "आदमी का इरादा पक्का होना चाहिए। हिम्मत और लगन होनी चाहिए। तुम होनहार हो। तुम सब बाधाएं पार कर जाओगे। 'ऐसे ही शब्दों से वे मुझे बहला देते थे। किन्तु शब्दों से पेट नहीं भरता।"<sup>17</sup> इस आत्मकथा में ऐसे अनेक छोटे-छोटे पहलुओं को सामने रखा है जो चंद शब्दों में ही समाज की बखिया उधेड़ते नजर आते हैं। ऊपर से सभ्य सुसंस्कृत दिखने वाल समाज की बुनियाद में कितनी दरिन्दगी, जाहिलियत भरी हुई है, यह इस आत्मकथा को पढ़कर ज्ञात होता है। "बेचैन की आत्मकथा असल में नेहरू की 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' का गुम हो गया सबसे बड़े अध्याय है, जो सौभाग्य से श्यौराज ने ढूँढ लिया है। अब असल में 'भारत की खोज' को पूर्ण माना जा सकता है। बेशक किताब में आए सामाजिक ढाँचे में जी रहे दलितों के उस धर्म की ओर बातों-बातों में इशारा किया गया है, जिसकी अभी खोज की जानी है। जो प्रचलित धर्मों से दलित को अलग करता है। बार-बार नियति और पुनर्जन्म के नाम पर किताब के लेखक को बहलाने की कोशिशों का खुलासा सामने आता है। लेखक का अदम्य साहस और उसकी जिजीविषा इन सबका मुकाबला करती है।<sup>18</sup> भारतीय समाज की बुनियाद में सारे शोषणकारी तत्व प्रारंभ से ही घुसे हुए हैं। छुआछूत, भेदभाव, उच्चता-निम्नता प्रारंभ से ही चली आ रही हैं। 'मनुस्मृति' के नियमों ने ब्राह्मण को तमाम विशेषाधिकार प्रदान किए और शूद्रों के लिए ऐसे नियमों का निर्माण किया जिससे वे स्वयं को मनुष्य तक न समझें। वे भूल जाएं कि वे भी अन्य व्यक्तियों की तरह ही हैं। समाज में उनके लिए भी स्थान हो सकता है या फिर वे

भी सिर उठाकर जी सकते हैं। जिस भारतीय संस्कृति और धर्म की बात की जाती है, वह कुछ और नहीं अपितु ब्राह्मणों की वर्चस्ववादी विचारधारा ही है। यह वही धर्म है जो अपनी श्रेष्ठता साबित करने के लिए दूसरे मनुष्य से घृणा करता है। उसे छूने से परहेज करता है और तरह-तरह से उनपर अत्याचार करता है। उस समाज की निम्नता कैसे आँकी जा सकती है जो अपनी स्वार्थी मात्र की पूर्ति करता है। यहां सवर्ण जातियों के यहां काम तो दलित से कराते हैं लेकिन उन्हें अछूत कहकर दुत्कार दिया जाता है— गंगी बब्बा से काम करा लेने के बाद उनसे अछूत की भाँति व्यवहार किया जाता था — “गांव में यादवों की हाथ-चाकी पीसते थे और चारा-मशीन खींच कर कुट्टी काटते थे। जब वे चाकी पीसते थे, तब उनके हाथ से छूने पर अन्न अछूत नहीं होता था, पर पीसने के बाद बतौर मेहनताना एक-दो रोटी का आटा भीख के अन्दाज में दूर से उनकी झोली में डाला जाता था या मुट्ठियों से सूखा अनाज कमीज के पल्लू में डाल दिया जाता था। पीसने के बाद यादव महिलाएं उन्हें आटे को हाथ भी नहीं लगाने देती थीं। बब्बा के अद्धा की गाँठ में उनका कटोरा बंधा रहता था। देह तोड़ मेहनत के बाद वे एक कोने में बैठ जाते।<sup>19</sup>

समाज में उच्च जातियों ने शिक्षा, मीडिया, कला-संस्कृति को अपने हाथ में रखा और दलितों के जिम्मे सफाई करना, मुर्दा मवेशी उठाना, मैला ढोना इत्यादि दे दिया। ऐसा कहा जाता है कि कोई काम बड़ा या छोटा नहीं तो दलितों के जिम्मे हमेशा यही काम क्यों लगा दिए जाते हैं। लेखक ने भी इस बात को नोट किया है। वे लिखते हैं, “सामाजिक गुलामी का अहसास मुझे आज और अधिक शिद्दत के साथ महसूस होता है। मैंने आज तक, किसी भट्टे पर किसी ब्राह्मण बनिये को ईंटें पाथते नहीं देखा। गाँव-शहरों की सफाई का काम वे भंगी समाज से वे अपने हाथों में लें, इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। कोई भंगी चमार किसी मठ-मन्दिर का पुजारी नहीं दिखा। अछूतों को मुक्त कर सम्मानित पेशों में आने के वे कितने खिलाफ हैं, हमारे प्रति उनकी भाषा और व्यवहार देखने पर सहज ही मालूम हो जाता है।<sup>20</sup>

भारतीय समाज इनके प्रति ऐसे-ऐसे कुशब्दों का इस्तेमाल करती है कि उसे लिखने में भी शर्म आती है। मानसिक यातना देने के उद्देश्य से अनेक मुहावरों को भी गढ़ लिया है बात-बात में यह कहना "गधेराज चमार, चमार की औलाद, क्या चमार पंचायत लगा रखी है" आम बात है। "पूर्वी उत्तर प्रदेश में चमार जाति के उभार पर आश्चर्य के गीत बन गये। उन्नीस सौ सत्तर-बहत्तर के समय जब मेरी उम्र दस-बारहसाल थी, मेरे आसपस ऐसे जाति गीत गूँज रहे थे -

चप्पल पहन चमाइन चले

सेडल पहन धोबनिया,

हाय मेरे रामा बदल गयी दुनिया।"<sup>21</sup>

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' पर आत्मकथा में डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन ने समाज के हर पहलुओं को छुआ है। एक बचपन महज 13-14 वर्ष की उम्र में ही समाज के प्रत्येक रूपों, वास्तविकताओं, छद्म आडम्बर, हिंसा, अत्याचार, अपमान सब झेल लेता है। यानी बचपन से ही वह तमाम कठोरताओं से अवगत हो जाता है। एक ओर इस आत्मकथा में भारतीय समाज की वीभत्सता सामने आती है दूसरी ओर यह समाज की आलोचना है। इसमें एक बालक की कहानी के साथ-साथ समाज की दरिन्दगी की लम्बी दास्तान भी खोलते चलते हैं भारतीय समाज में धर्म संस्कृति के छद् आवरण को पूरी तरह बेनकाब किया गया है इस आत्मकथा में।

## संदर्भ

- <sup>1</sup> संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध, पुरुषोत्तम अग्रवाल राधकृष्ण प्रकाशन प्रथम सं० 1995 पृ 15
- <sup>2</sup> दुखों से सिलसिलेवार गुजरने की कथा – कैलाश दहिया नई धारा दिस.–जन. 2010 पृ. 97
- <sup>3</sup> मेरा बचपन मेरे कंधों पर – श्यौराजसिंह बेचैन वाणी प्रकाशन 2009 पृ 367
- <sup>4</sup> मेरा बचपन मेरे कंधों पर – श्यौराजसिंह बेचैन वाणी प्रकाशन 2009 पृ 369
- <sup>5</sup> नैतिकता के नए सवाल–राजकिशोर, वाणी प्रकाशन 2006 पृ.42
- <sup>6</sup> मेरा बचपन मेरे कंधों पर – श्यौराजसिंह बेचैन वाणी प्रकाशन 2009 पृ 108
- <sup>7</sup> मेरा बचपन मेरे कंधों पर – श्यौराजसिंह बेचैन वाणी प्रकाशन 2009 पृ.30
- <sup>8</sup> चिन्तन की परंपरा और दलित साहित्य– श्यौराजसिंह बेचैन : डॉ० देवेन्द्र चौबे नवलेखन प्रकाशन 2000–2001 पृ 195
- <sup>9</sup> आधुनिकता के आईने में–अभय कुमार दुबे, 127 वाणी प्रकाशन सं० 2002पृ 127
- <sup>10</sup> आधुनिकता के आईने में–अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन सं० 2002 पृ.100
- <sup>11</sup> मेरा बचपन मेरे कंधों पर – श्यौराजसिंह बेचैन वाणी प्रकाशन 2009 पृ189
- <sup>12</sup> मेरा बचपन मेरे कंधों पर – श्यौराजसिंह बेचैन वाणी प्रकाशन 2009 पृ402
- <sup>13</sup> मेरा बचपन मेरे कंधों पर – श्यौराजसिंह बेचैन वाणी प्रकाशन 2009 पृ 402
- <sup>14</sup> मेरा बचपन मेरे कंधों पर – श्यौराजसिंह बेचैन वाणी प्रकाशन 2009 पृ 311
- <sup>15</sup> वही पृ., 339
- <sup>16</sup> वही पृ. 339
- <sup>17</sup> मेरा बचपन मेरे कंधों पर – श्यौराजसिंह बेचैन वाणी प्रकाशन 2009 पृ 339
- <sup>18</sup> दुखों से सिलसिलेवार गुजरने की कथा –कैलाशदहिया, नई धारा दिस.–जन. 2010 पृ. 98
- <sup>19</sup> योद्धा बनें हर दलित – महाश्वेता देवी दैनिक हिन्दुस्तान 6 दिस. 2009
- <sup>20</sup> मेरा बचपन मेरे कंधों पर – श्यौराजसिंह बेचैन वाणी प्रकाशन 2009 पृ69
- <sup>21</sup> मेरा बचपन मेरे कंधों पर – श्यौराजसिंह बेचैन वाणी प्रकाशन 2009 पृ 186



## ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ में अभिव्यक्त बाल-जीवन

- 3.1 ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ : दलित बालजीवन की त्रासदीपूर्ण सच्चाईयां
- 3.2 भूख से संघर्ष
- 3.3 शिक्षा के लिए संघर्ष

### 3.1 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' : दलित बाल-जीवन की त्रासदीपूर्ण सच्चाइयां

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में बालक सौराज की बचपन से लेकर दसवीं कक्षा तक की कहानी है; इसी छोटी अवधि की दास्तां में यह अनेक सवाल छोड़ जाती है। समाज जिस शोषण और अत्याचार की बुनियाद पर खड़ा है; यह आत्मकथा उस बुनियाद पर सवाल खड़े करती है। अपनी प्रगति और अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए समाज शोषण की किसी हद को पार कर सकता है। यहां दलित-वर्ग को हमेशा उनके अधिकारों से वंचित इसलिए रखा गया ताकि उच्च जातियों को दासों की कोई कमी न हो। वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से ये कार्य वंशानुगत बनाए गए, जिससे भविष्य की भी मुश्किलें हल की जा सकें। बहरहाल, बात जहां तक भारतीय समाज में दलित बाल-जीवन की है; तो उन्हें बेहद यातनाग्रस्त जीवन जीने को बाध्य होना पड़ता है।

एक छोटा बच्चा जो गरीब है, उसके पास दो जून की रोटी नहीं है। तिसपर से वह दलित है। उसके पिता ओझाओं की दरिन्दगी की बलि चढ़ जाते हैं। ब्याह-शादी में खुशी-खुशी आये बालक का बचपन छिन जाता है, "मैं जब घर से गया था तो बारात देखने की खुशी में हँसता खेलता चाचा के कंधों पर सवार होकर गया था और अब पिता क चले जाने पर लौट रहा था तो मेरा बचपन खुद मेरे ही कंधों पर आ पड़ा था।" यहीं से छिन गया बचपन और शुरू हो गई संघर्ष की लम्बी यात्रा। अबोध उम्र में ही बालक के कोमल मन पर कड़ी चोट लगी थी। जिसकी दहशत उसके मन में लम्बे समय तक समाई रही। पिता के कंधे से उसे कठोर तपती भूमि पर उतारा जा चुका था। पिता की मौत के डरावने और पाशविक कृत्य से मन में पैदा दहशत के बारे में श्यौराज लिखते हैं, "मैं अपनी आंखों के सामने घटित हुए इस पूरे परिदृश्य से इतना सहम गया था कि मेरे दिल में दहशत ले काले साए समा गये थे। अम्मा बताया करती थी कि मैं कई महीनों तक नींद से बड़बड़ाता हुआ कहता था, "मेरे चाचा को मत मारो, छोड़ दे इन्हें" .... सपने में सबकुछ सजीव हो जाता।<sup>2</sup> पिता की मौत के बाद इस अबोध बच्चे के ऊपर सकंट

का पहाड़ टूट पड़ा। सिर्फ जीने के लिए इतना संघर्ष, इस दुःख ने मजबूर कर रखा था उन्हें।

माँ को उनके नाना किसी दूसरे घर भेज देते हैं। यानी बालक के सौतेले पिता के पास, "एक ऐसे दलित बालक को जिसकी माँ को उसके नाना वहीं दूसरी ओर तीसरी जगह ब्याह दें और दूसरा पिता अगर पहले के बच्चों का किसी भी प्रकार की जिम्मेदारी से इंकार कर दे तो अनाथ होने की यह पीड़ा कितना गुना बढ़ जाती होगी, इसका अंदाजा लगाया जा सकता है। बालक सौराज का बाकी परिवार भी कंगाल है, भूखमरी का शिकार है। उसके बाबा और ताऊ अंधे या लगंडे हैं। वे खुद पराश्रित हैं।<sup>3</sup> पिता की छोड़ी गई सम्पत्ति के नाम पर क्या बचता है इस अबोध बालक के लिए। इस सम्पत्ति में वही चीजें थी जो सवर्ण समाज ने सदियों से दलित वर्ग के लिए रख छोड़ा है। जिससे पशु की खाल उतारी जा सके। मरे पशुओं की लाश उटाई जा सके। उनका मांस भूना जा सके।

"चाचा ने अपनी शादी के समय अम्मा के कुछ गहने—खड्डुवा—बराह, कौंधनी पाजेब, नाकफूल तथा मवेशी उठाने वाले दो-तीन संगेटे, खाल काढ़ने वाले दो-तीन छोटे-बड़े रॉपे और चार पांच छुरियां, जूतियां बनाने वाले कलाबूत, फरहा, रांपी, सुतारी आदि औजार के रूप में छोड़े थे। जंगल में एक कच्ची कोठारी भी छोड़ी थी जो चमड़ा पकाने के काम आती थी। खेति के नाम पर पौने दो बीघा 'रेह' दार बंजर भूमि भी थी, जिसमें आधा हिस्सा ताऊ का भी था। साधनों के नाम पर हाथ कस्सी सिंचाई के लिए ढेंकली उत्पादन ऐसा कि बीज भी वापस नहीं होता था। किसानों एक खुशफहमी से अधिक कुछ भी नहीं थी। यही सब छोड़ा था विरासत में मेरे लिए मेरे दिवंगत पिता श्री राधेश्याम ने। मानों वे कह गये हों — "उठा सको तो उठाओ बेटा गाँव भर की मुर्दा मवेशियां जो तुम्हारे नाजुक कंधों का बेताबी से इन्तजार कर रही हैं। भूखे हो तो खाओ मुर्दा मवेशियों का मांस और चाहिए चार आना, आठ आना तो, लम्बरदार का जाकर करो बेगार, हाँको रहट—दाँय उठाओ गोबर और डालो भूसा।"<sup>4</sup>

पूरे समाज की सभ्यता को चीर कर नंगा कर देती हैं ये पंक्तियां। नई सदी में जी रहा युग एक बालक के लिए यही विरासत तय कर रखा है। मजबूरी और

असहायता का घेरा बना रखा है उसके चारों ओर, जिनके बीच बालक की पूरी जिन्दगी फँसी है। सारी सुविधा उनके लिए है और इस बालक के लिए तो उसकी अपनी हड्डी पसली भी नहीं।

उसकी देह को भी बेगार करने के लिए विवश कर दिया है इन सवर्ण समाज के रहनुमाओं ने। बिना बाप के मासूम बच्चे राह तकते रहते हैं, "पैठ के दिन लोग पुटलियां बाँध-बाँध कर लौटते तो हम बहन-भाई मायूस होकर रास्ते की तरफ देखते रहते। पिता को अपनी हाथों दाग (दाह) दिया था और अम्मा ने समझा भी दिया था, इसके बावजूद हमें इन्तजार रहता था कि पिता कहीं से कुछ लेकर आ रहे होंगे।<sup>5</sup>

इस बालक के घर की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। उसी हालात में कर्णधार पिता का चल बसना, एक सदमें की तरह था। बालक श्यौराज को भूखे पेट रहना तो जैसे आम बात हो गई थी। ऐसी हालातों में आदमी का जिन्दा रहना भी बेहद कठिन होता है बाकी चीजों की बात तो बहुत दूर है। उन्हीं के शब्दों में "हमारे परिवार में आँख से, दिमाग से और हाथ-पाँवों आदि सभी से पूर्ण स्वस्थ पुरुषों में केवल एक व्यक्ति था और वे थे मेरे पिता जो अब नहीं रहे थे।... उनके बाद हमारे घर में साग-सब्जी से भरपेट खाना मिलना तो दूर, दोनों वक्त नमक-चटनी से भी रोटी मिलनी मुश्किल हो गयी थी। हारी बीमारी में दवा-दारु के लिए भी अब घर में फूटी कौड़ी नहीं थी।<sup>6</sup>

ऐसी स्थिति में लाचार बालक सौराज काम के लिए तैयार रहता था, "हम बालश्रम के लिए तत्पर थे। पर गाँव में काम भी नहीं मिलता था। अशिक्षित माँ, भूमिहीन घर, नाबालिग बच्चे, आय का कोई स्रोत नहीं।"<sup>7</sup> गाहे-बागहे अगर काम मिल गया तो सौराज वही करने लगे। बचपन से खेलना कूदना बन्द। जिन्दगी की कठिन राह तय करने के लिए सिर सिर झुकाए अबोध बच्चा काम करने लगा, "पाली मुकीमपुर अलीगढ़ जनपद में अतरौली तहसील का एक बड़ा गाँव है। यहां उन दिनों मैं ईख छीलने, सिला बीनने, आलू खोदने और कभी घास खोदने आदि कामों में 'अम्मा' और बहन के साथ काम पर जाया करता था।<sup>8</sup> पिता के न होने और सौतेले बाप के यहां रहने के कारण लोग उसे मानसिक कष्ट देने से भी बाज

नहीं आते। उसे 'लावारा' कहकर चिढ़ाया जाता है। ऐसे समाज में बेसहारा लोगों पर फब्तियां कसी जाती हैं; उनकी देख-रेख तो करना बहुत दूर की बात है। "ईख काटते-काटते एक बार फूलचन्द ने मुझे लवारा कहकर चिढ़ाया। लवारा कहने से उसका मतलब था कि मैं सौतेले बाप के घर आने के कारण इंसान की औलाद नहीं रह गया हूँ। मेरा शुमार पशुओं में है। मैं भैंस का ऐसा बच्चा हूँ जो उसके साथ आया हूँ। सोचता हूँ। सौतेले की यह हालत थी तो अवैध बच्चों का क्या हाल होता होगा। समाज की मार के चलते उनपर क्या गुजरती होगी।"<sup>9</sup>

बगैर पिता के असहाय बालक के प्रति न किसी की चिन्ता है और न किसी की सहानुभूति। इस कठोर समाज से चिन्ता और सहानुभूति पाने की आशा भी क्या की जाएगी जब वह स्वयं ऐसे बालकों के लिए मुश्किलें खड़ी करने के लिए हमेशा तत्पर रहता हो। मासूम बच्चे के बचपन के हर कदम पर संघर्ष और मुश्किलें आकर खड़ी हो जाती हैं। ये मुश्किलें समाज द्वारा दलित वर्ग के लिए सदियों से दी गई हैं। "डॉ. श्यौराज सिंह का बचपन अभावग्रस्त सामाजिक निम्नता के तीन स्तरों के गुंफन से बनी आर्थिक-सामाजिक निर्मित है। यहां एक ही बच्चे में तीन बच्चे समाहित हैं— पहला वह बच्चा, जो अंधे बाबाओं, एक विकलांग तारु और परिवार के एकमात्र कार्यक्षम सदस्य अपने पिता की मृत्यु से पीड़ित रोटी को मुहताज परिवार का सदस्य है; दूसरा वह बच्चा जो जन्मना चमार है, अस्पृश्य है और जिसके परिवार को उसके ही स्वजाति बंधु जाटवों ने बहिष्कृत कर रखा है, क्योंकि वह परिवार मृत पशुओं को ढोने, उनकी खाल उत्तार कर रंगने, पकाने बेचने के धंधे से अपनी आजीविका चलाता है; और तीसरा वह बच्चा जो बेहद विषम, विपरीत और शत्रुवत परिस्थितियों के भंवर में फसे होने के बावजूद किसी भी तरह शिक्षित हो जाने की ललक पाले हुए है। मौजूदा सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के चलते इनमें से किसी भी एक परिस्थिति में फंसा बच्चा अपने जीवन को अपनी तरह से खड़ा करने के प्रयास में टूटकर बिखर सकता है ऐसे में ये तीनों परिस्थितियां एक ही बच्चे को घेर कर खड़ी हैं।"<sup>10</sup>

ऐसी स्थिति को उनकी अम्मा बखूबी समझती है। वो चाहती हैं कि उनका बेटा जितनी जल्दी इस कठोर भूमि पर अपने आपको खड़ा करने के लिए तैयार

कर ले उतना ही अच्छा। अम्मा स्वयं बेबस है। वह बच्चों की छोटी सी जिद पूरी नहीं कर पाती। असहाय होकर रो पड़ती है और कहती है – “सुन सौराज, कान खोल के सुन! तेरो बाप मरि चुको है। वो तेरी सुनन कूँ अब कबऊ लौटि के नाँय आवैगो समझे। मैं तेरी कोई जिद पूरी नाँय कर पाउँगी। अब तोइ अपनी जिन्दगी अपनी कमाई से गुजारनी है। जिद्द छोड़, कछु काम सीख लें।” इस तरह बोलते-बोलते वह रोने लगी और आंसूओं से डबडबाई आंखें लेकर घर के अंदर चली गयी। इस प्रकार मेरा बचपन मेरा बोझ लेकर मेरे कमजोर कंधों पर सवार होना शुरू हो गया था। बचपन मैं छोड़ नहीं सकता था और भार लेकर मैं दौड़ नहीं सकता था। जीवन की मंजिले आवाज दे रही थी। रास्ते अनिश्चित और अपरिचित थे। पाली में मेरा गुजारा नहीं था। बचपन के निर्वाह की जिम्मेदारियां जो खुद के कंधों पर थीं।<sup>11</sup>

सब कुछ बेवक्त घटा इस गरीब परिवार में। जिस बच्चे की उम्र खेलने की थी, उसे अपना बोझ उठाने के लिए विवश होना पड़ा। जिस वक्त पिता की मृत्यु हुई उस समय वह उसका अर्थ भी नहीं जानता था। अम्मा के समझाने के बाद भी वह महसूस करता है कि पिता आएंगे। “बालक का संघर्ष उसकी उम्र के पाँच-छः वर्ष बाद ही से शुरू होता है। जब उनके पिता का देहांत होता है। पिता जिन्हें वे चाचा कहते थे अपनी बहन के यहां अंधविश्वास की चपेट में आ गए। लोगों की अज्ञानता ने उन्हें लील लिया। बहुत ही कम उम्र में श्यौराज ने पिता के स्पर्श और नैसर्गिक वत्सलता को छिनते देखा। वे आज तक पिता के उस लाड़ को भुला नहीं पाए। एक बच्चे के पास पिता का लाड़ ही तो सबसे बड़ी पूँजी होती है जिससे वह पल-पल आनान्दि होता है। आत्मकथा के प्रारंभिक भाग ‘बेवक्त गुजर गया माली’ में लेखक ने पिता के गुजारने का ऐसा दर्दनाक दृश्यांकन किया है कि कोई भी उसे पढ़कर रोए बिना नहीं रह सकता। इस भाग में बेचैन की पिता का लाड़ छिनने की छटपटाहट और कसमसाहट साफ देखी जा सकती है। लेखक की यह टीस उस समय, जब चौधरी रघुनाथ सिंह भूगोल अध्यापक के घर रहकर उनका काम करता है और उनकी पत्नी एक पढ़ने वाले बालक से अपने बालकों की टट्टी उठवाने को कहती, उभरकर सामने आती है “मेरे बचपन की दुनिया से गैर

हाजिर मरे दिवंगत पिता तुम्हारे न होने से मेरे साथ और क्या-क्या होना बढ़ा है।<sup>12</sup> पिता के खोने के अहसास बार-बार सालता रहा। सौतेले पिता को वे सभी अपना नहीं मान पाये। उसने ऐसा अहसास भी तो नहीं दिया। जिस बच्चे के लिए उनकी अम्मा ने उसका हाथ पकड़ा था वहीं पुरुष उसके बच्चों का अहित करना चाहता था-

“किसी भी बच्चे का जीवन पिताहीन हो जाना एक ऐसी रिक्ति है जो फिर कभी भर नहीं पाती। पर हमारे सामने था हमारे नये पिता का नया हुलिया, जिसे हमें भीतर तक स्वीकार करना था और न करने के लिए हमारे पास कोई विकल्प नहीं था और स्वीकार करने में मेरे बाल मन को मानसिक द्वंद्व से गुजरना पड़ा था। उस अनुभव को शब्दबद्ध कर पाना संभव नहीं; क्योंकि भिकारी न हमें सगे जैसा कभी नहीं समझा, बल्कि हमेशा हमारा अहित -चितन ही किया। वह मरते दम तक हमारे अकल्याण की कामना करते रहे।<sup>13</sup>

मौका पाकर उनका सौतेला बाप उनपर अत्याचार करना चाहता था। उन्हें नहलाने के बहाने मारता था - “उनका सौतेला भाव रगड़ के आक्रोश में मेरी देह पर उतर जाता था। वे इतनी निर्दयता से मसलते थे मानो बढई लकड़ी पर रंदा फेर रहा हो। मैं छूट कर भाग रहा होता तो उन्हें इसी बहाने मेरे मुँह पर तमाचा मारने का मौका मिल जाता।”<sup>14</sup> यहीं नहीं भिकारी नहीं चाहते थे उनका सौतेला बेटा पढ़े। स्कूल में भिकारी उन्हें देखकर लात घूँसे, थप्पड़ और चमड़े के बने नाडे से पीटा गया। बेबस अम्मा उन्हें समझाती हैं “जो तू पढ़नो चाहत है तो पहले अपने मर गये बाप को वापस बुला। बाप नाँय लावत तो पहले अपने खान कूँ रोटी, पहन कूँ लत्ता और फीस किताबन कूँ पैसा ला।”<sup>15</sup> बालक सौराज काम करने को विवश है। बहन द्वारा खादी गई घास बाजार में बेचने जाता था। उसे दीपचन्द्र ठेकेदार के यहां काम करना पड़ता था। इलाहाबाद बैंक का निर्माण हो रहा था। काम करते हुए चोट लग जाने पर उसे मजदूरी भी बड़ी मुश्किल से मिलती है, वह भी बहुत कम। “मैं बजरी रोड़ी सीमेंट, पानी इत्यादि मशीन में डालने का कार्य किया करता था। इसके लिए हमें एक-एक रुपया रोज की मजदूरी मिला करती थी। कपड़ा नहीं होता था। इसलिए ऊपर नंगी खोपड़ी पर भारी तसला होता था और नीचे पांव

रेत, बजरी व सरियों पर चले रहे होते थे। एक दिन टूटे हुए तसले ने मेरी हथेली काट दी गहरा चीरा लग गया, तो मुझे काम से हटना पड़ा। खून को रोक कर कपड़ा बांध लिया। ठेकेदार ने घर लौटा दिया। जब मैं लौटा, तब शाम के करीब चार बजे थे। उसके बाद मैं कई दिन हाथ से काम करने में असमर्थ रहा। पूरे एक सप्ताह मेरे हाथ में पट्टी बंधी रही। अम्मा ठेकेदार के घर में मेरी मजूरी मांगने गयी तो उन्होंने यह कहकर टाल दिया कि दुबारा काम पर आएगा तब नया-पुराना हिसाब कर दिया जायेगा। परन्तु जब बार-बार मांगना पड़ा तो एक घंटे के आठ आना काट कर बाकी आठ आना दे दिये... चार आना दे दो की गुहार उन्हें चौदह दिन लगानी पड़ी वे चार आना आज तक मेरे पास नहीं आ पाए।<sup>16</sup>

यहीं नहीं उन्हें अपने बूते से बाहर चारा काटने वाला मशीन से चारा भी काटना पड़ता था – “बब्बा जब यादवों की कुट्टी काटने के लिए चारा मशीन खींचते थे, तो मुझे भी उनमें साथ जुटना पड़ता था, जबकि हाथे तक मेरा पूरा हाथ भी नहीं पहुंच पाता था। हाँफते हुए उचक-उचक कर उनकी मदद किया करता था।”<sup>17</sup> अत्यंत भूखे होने पर जब सौराज ताई के घर से दो रोटी भर चून चुराने पर ताई की शिकायत पर उन्हें पीटा गया। वे टोड़ी ताऊ के यहां भी मजूरी करते थे “टोड़ी ताऊ की नजर मुझपर गई। मैं सरस्ता और सहज-सुलभ बाल मजदूर था। वर्षों से मैं रहटें –दाँय हाँक रहा था। .... पूरे आदमी से आधी ‘लाई’ मुझे मिलती थी। मैं काम पूरे आदमी से भी अधिक करता था, क्योंकि बैलों के पीछे कोई बच्चा आदमी से कम नहीं चलता। सुबह सूरज निकलने से पहले उठा लिया जाता था और साँय अंधेरा होने तक खटाया जाता था।<sup>18</sup>

कितना कुछ भोगना पड़ा था इस बालक को। इस निरीह बालक का फायदा जिसने जहां पाया वहां उठाया। उसकी शक्ति से अधिक काम करवाए। पेट भूखा है या नहीं, इसे किसी ने नहीं देखा। कितना निर्दयी समाज देखा है, जिया है इस बालक ने। “बाल संघर्ष और बाल शोषण का कोई रूप ऐसा नहीं है जो इस आत्मकथा में न हो। अनाथ होने का पीड़ा, भूख, गरीबी, बीमारी, दलित होने की पीड़ा तथा पढ़ लिख कर अपने पैरों पर खड़ा होने की तीव्र अकांक्षा इस आत्मकथा का महाकाव्य का रूप देती है।”<sup>19</sup>



डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन अपनी आत्मकथा में एक महत्त्वपूर्ण सवाल उठाते हैं कि क्या वाकई में हम आजाद हैं ? अपने देश में सामाजिक गुलामी के दंश को झेलते हुए तो 'आजादी' का नाम लेना बेमानी है। कभी उसे बालक होने के कारण पीटा गया तो कभी दलित होने के कारण। पढ़ाई के लिए पैसा कमाना जरूरी था। दिल्ली में मौसा के यहां रहने को मिल गया था। पर अपनी जीविका खुद चलानी थी। श्यौराज नीबू बचने लगे। कुछ दिनों तक अण्डे बेचे। निकिल कारखाने में तेजाब के दाग अपनी हथेलियों पर झेल कर काम किया। रोटी के इन्तजाम के लिए होटल के नौकर भी रहे।

बाल मजदूरी एक अभिशाप की तरह है; आज का तारीख में भी हजारों मासूमों को इसी काम में ढकेला गया है। इनकी संख्या इतनी अधिक है कि आंकड़े तक नहीं हैं।

बाल मजदूरों के साथ किसी प्रकार की जबर्दस्ती की जा सकती है। ये बच्चे कारखानों, होटल, ढाबों, दुकानों में अपार दुख झेलते हैं। सिर्फ दिल्ली के कुछ इलाकों की बात करें तो इसमें 'उत्तरी पश्चिमी जिले में बालमजदूरों की संख्या 1 लाख है! 'नंदनगरी और चमनपुर में आटो वर्कशाप और निकिल पॉलिशिंग करते हैं। यहां बाल मजदूरों की तादात एक लाख है। तीसरे नम्बर पर राजधानी का सबसे पॉश दक्षिण जिला है। यहां के जामिया नगर, बाटला हाउस, भारत नगर, गोविन्दपुर, तुगलकाबाद, संगम बिहार, देवली, कोटला, मुबारकपुर और जैतपुर में बच्चे मजदूरी से जुड़े अलग-अलग कामों में लगे हैं। जिनमें कढ़ाई का काम भी इन मासूमों से लिया जाता है। हजारों मासूम यहां पर बटन बनाने के कारखानों में भी लगे हैं। इसके बाद मध्य, दक्षिण-पश्चिम, बाहरी, पूर्वी और पश्चिमी क्षेत्र का नंबर आता है। यहां हर जिले में बाल मजदूरों की तादात 25,000 की आसपास बताई जाती है।<sup>20</sup>

बालक सौराज भी होटलों में मजदूरी करने पर विवश है दिन भर होटल का काम। उसके बाद बच्चा होने के कारण रात भर नौकरों की बेगारी भी करनी भी करनी पड़ती है। "टीम के बॉस ने तेल की शीशी निकाल और पहलवानों वाला जाँघिया पहनकर तख्त पर आंधे मुँह लेट गया बोला— "सौराज, शीशी उठा। मेरे

हाथ, पैर और कमर पर तेल मालिश कर। "मैं यहां नथा और सबसे छोटा था। इस कारण होटल में ज्यादा से ज्यादा दोहरा काम मुझसे ही लिया जाता था। मालिक का तो मैं नौकर था ही, अब नौकरों के लिए भी मैं बेगार में नौकर हो गया था। यह अतिरिक्त सेवा लिया जाना मेरी इच्छा के विरुद्ध था। परन्तु मैं ना कैसे करता ? यदि करता तो वे अगले दिन से मुझे काम ही नहीं करने देते। होटल क काम से छूटने तक मैं एक तो दिन-भर का थका मॉदा होता था, उस पर यह बेगार।"<sup>21</sup>

पढ़ने की लालसा में श्यौराज अपने शिक्षक प्रेमपाल के यहां मजदूर बनना भी स्वीकार कर लेते हैं। प्रेमपाल के यहां सारे काम के बदले सिर्फ रोटी मिलती है। मास्टर साहब सौराज से काम करवाते हैं और उन्हें कोरा नैतिक उपदेश दे हैं।

डॉ. श्यौराज प्रेमपाल के विषय में लिखते हैं, "वे ईश्वर भक्त हैं ठीक संध्या ध्यान करते हैं। नियमित व्यायाम करते हैं, सात्विक विचारों वाली बात करते हैं, शाकाहारी है; लेकिन वे मुझसे हाड़तोड़ काम क्यों लेते हैं केवल रोटी के बदले। मेरी मेहनत का दंशांश भी दे दिया करें तो मेरा खर्चा चलता रहे। आखिर मुझे मेरा शोषण अखरने लगा। शोषण पाप क्यों नहीं ? ईश्वर भक्ति में किसी का दोहन क्यों शामिल है ? दयानन्द सरस्वती के सत्यार्थ प्रकाश में मेरी इस समस्या का समाधान क्यों नहीं है ? पहले वर्ष उनके खेतों में गेहूँ की कटाइयां की। उसके बदले में मुझे केवल रोटी मिली।"<sup>22</sup>

इस समाज में जीने मात्र के लिए बाल सौराज को कौन-कौन से काम नहीं करने पड़े। स्वयं उनकी पत्नी मीनू को भी आश्चर्य होता है। वे कहती है, "अजीब बात है! कहीं कोई राजमिस्त्री मिलता है तो कहते हो मैं भी राज था। नींबू खरीदने जाओ तो कहते हो मैं भी नींबू बेचा करता था।"

अखबार डालने वाले को बताते हो कि "मैं दूसरी मंजिल पर पेपर नहीं फेंक पाता था। उस दिन होटल में खाना खाने गये तो कहने लगे दिल्ली में भी होटल में बर्तन साफ किया करता था। गांव गये तो बताने लगे प्रेमपाल सिंह यादव का हल जोता करता था, अब मोची मिला तो कहते हो जाना -पहचाना लगता है।"<sup>23</sup>

एक बालक को इस समाज में जीवन जीने भर के एवज में प्रतिक्षण अपना खून-पसीना जलाना पड़ा। तिस पर से अपमान, भय, भूख, बीमारी हिंसा क्या कुछ नहीं सहा उन्होंने। आत्मकथा में लिखा गया उनका यह कथन अक्षरशः सत्य है जिसमें उन्होंने कहा है कि समाज आज मेरे बालश्रम का भुगतान कर दे तो मैं आज से ही शेष जीवन बगैर कमाये खाने का हकदार हूँ। ... यह आत्मकथा महज श्यौराज की कहानी नहीं अपितु लाखों करोड़ों दलितों की कहानी है। इस आत्मकथा के सहारे हम देख सकते हैं कि किस तरह दलित बच्चे एक ओर बंधुआ मजदूरी करते हैं तो दूसरी ओर उन्हें बलात दौयम दर्जे के कामों पर लगाया जाता है। शोषण यहीं नहीं रुकता, गर बाल शोषण तक बात रुकती तो भी समझ में आता, पर विधि की कलम तो सारे मेयार पार कर जाती है। दुख, पीड़ा, वेदना से भरा दलित बच्चों का जीवन केवल बाल शोषण का ही शिकार नहीं बनता, बल्कि जब तब उन्हें जातिगत निम्नता का, क्षुद्रता का एहसास कराया जाता है। बालक श्यौराज ने पूरी निष्ठा से चुनौतियों का सामना किया। जीवन जीने से लेकर शैक्षणिक गतिविधियों के पूरा होने तक जितने भी दंश मिले उन सभी से वे जूझते रहे जद्दोजहद करते रहे। इस लिहाज से 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' एक दलित बच्चे की कर्मठता का आख्यान प्रस्तुत करने वाली आत्मकथा है। इस आत्मकथा में दुख के गहरे सागर भी हैं और मेहनत से पर्वत शिखर पाने की जीवट आकांक्षाएं भी हैं जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

### 3.2 भूख से संघर्ष :

भूख दलित समाज के जिंदगी का सबसे बड़ा सच है। मेरा बचपन मेरे कंधों पर आत्मकथा अस्पृश्य समाज की बदतर और दयनीय हालत को लेकर सामने आती है। जिसमें सिर्फ सौराज और उनके परिवार के स्थिति का ही बयान नहीं अपितु समाज के उस पूरे वर्ग की सचाई है, जो गैर दलितों के अत्याचार को हमेशा से ही झेलता आ रहा है। सुविधा सम्पन्न जातियों ने इनका इस्तेमाल किया है। पशुओं को तो खैर चारा भी दे देते हैं ; लेकिन यह अछूत वर्ग कड़ी धूप में हाड़तोड़ श्रम करने पर भी दो जून की रोटी प्राप्त नहीं कर पाता। काम के लिए यह वर्ग गैर कौमों की कृपा, दया और सहानुभूति पर निर्भर है। यही वर्ग इनको भूखों मरने पर विवश करता है।

कितनी त्रासदीपूर्ण स्थिति है, भूख से मरना ! बालक सौराज और उसका परिवार भूख से बिलबिलाकर ढड़ायन खाकर मौत से जूझ रहा था। भूख उन्हें मौत के मुँह में लिए जा रही थी। इस स्थिति का वर्णन करते हुए लेखक श्यौराज सिंह बेचैन ने आत्मकथा में लिखा है—“रात घर में चावल नहीं थे, इसलिए हम चारों भूखे सोए थे। अम्मा के लिए यह भूख और अधिक कष्टकर थी, क्योंकि उसकी गोद में पाँच-छह महीने का बच्चा था। उसे बच्चे को भी दूध पिलाना पड़ता था..... सीटी-सीटी सी बेस्वाद वह अभोज्य ढड़ायन जिसमें धान के खेत में उगने के बावजूद चावल जैसा कुछ भी नहीं था। स्वाद तो जरा भी नहीं, लेकिन तेज भूख के कारण शीघ्र ही पेट में उतर ली..... गर्म-गर्म ढड़ायन पेट में उतरी और जिसके शरीर में विष से लड़ने की प्रतिरोधी क्षमता जितनी कम थी, उतनी ही जल्दी वह होश खोने लगा था.....मृत्यु के करीब होने की भयाकान्तता के वशीभूत हम चारों बच्चे अम्मा से चिपक गये थे। हमारी मौतें भूख से हो रही थीं या अभक्ष्य के भक्षण के कारण? आखिर भूख ने ही तो हमें मजबूर किया था”<sup>24</sup> ‘जूठन’ में ओमप्रकाश वाल्मीकि एक ऐसी ही घटना का जिक्र करते हुए बताते हैं कि— एक बार स्कूल में मास्टर साहब द्रोणाचार्य का पाठ पढ़ा रहे थे। ‘मास्टर साहब लगभग रूँआसा होकर बताया था कि द्रोणाचार्य ने भूख से तड़पते अश्वत्थामा को आटा पानी में घोलकर पिलाया था, दूध की जगह। द्रोण की गरीबी का दारुण नक्शा सुनकर पूरी कक्षा हाय-हाय कर उठी थी। मैं खड़ा होकर मास्टर साहब से एक सवाल पूछ लेने की

धृष्टता की थी. 'अश्वत्थामा' को तो दूध की जगह आटे का घोल पिलाया गया और हमें चावल का माँड़. फिर किसी भी महाकाव्य में हमारा जिक्र क्यों नहीं आया? किसी महाकवि ने हमारे जीवन पर एक भी शब्द क्यों नहीं लिखा?' समूची कक्षा मेरा मुँह देखने लगी. जैसे मैंने कोई निरर्थक प्रश्न उठा दिया हो ! मास्टर साहब चीख उठे थे , " घोर कलिजुग आ गया है.....जो एक अछूत जबान जोरी कर रहा है."<sup>25</sup> कैसी विडम्बना है कि ब्राह्मण होने के कारण उसकी जरा सी भूख को महिमा मण्डित करके दिखाया गया और दलित वर्ग की भूख से होती मौत को भी नियति मान लिया जाता है. भूख का मारा सौराज का परिवार ढड़ायन खाकर भी जीने की कोशिश कर रहा है. 'भूख आदमी से सभी प्रकार के काम करा लेती है.'<sup>26</sup> इसी मजदूरी में बालक सौराज को मरे जानवरों की खाल उतारने में भी मदद करना पड़ता है—हमारे अलावा जोरी ताऊ का लम्बा परिवार मुर्दा मवेशियों का मांस खा—खाकर ही पला था.....मेरे कच्चे कन्धे संगटा तो नहीं सँभाल पाते थे, लेकिन मुर्दा पशु के सींग, पैर या पूँछ पकड़ने का काम मैं जोरी ताऊ, प्यारे चच्चा, टुंडी व गंगी बाबा के साथ करता रहता था. मांस निकाल लाने के लालच से भी मैं पशु उठाई के काम में रूचि लेता था. सींग , पूँछ पकड़ते—पकड़ते आने—दो—आने के लालच में लम्बे संगटे के नीचे कब मेरे खुद के कन्धे आ गये, पता ही नहीं चला.<sup>27</sup> दलित काम के लिए सवर्ण जातियों पर निर्भर रहता है. सवर्णों की जरूरत पर उन्हें काम मिलता है, वो बुलायें तो काम नहीं तो कुछ भी नहीं. मजदूरी भी उनकी दया पर . 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' में श्यौराज सिंह बेचैन इसी स्थिति का जिक्र करते हैं—“अब अब्बा, ताऊ और मैं हमेशा घर के सामने बिकाऊ माल की तरह बैठे रहते थे. कोई आए और दिन भर के लिए खरीद ले जाए, चाहे तो अपने खेत में काम कराने के लिए ले जाए या बोझा ढोने के लिए हम तैयार रहते थे. किसी तरह का काम दे ताकि सेर दो सेर अन्न मिले. और बच्चों के पेट में अन्न पड़े.”<sup>28</sup> बालक दलित है इसलिए भूख का सवाल हमेशा उसके सामने मँडराता रहता है. भूख एक बड़ी सचाई है, जिसके लिए आदमी कुछ भी करने पर मजबूर हो जाता है. "विकलांग और नेत्रहीनों के संरक्षण में, न पल सकने वाली स्थिति में भी पलने वाले इस बच्चे की जीवन यात्रा, जिसमें एक जून की रोटी भर जुटाने के लिए हाड़तोड़ मेहनत करनी पड़ती है. कभी काम करने के बावजूद रोटी नहीं मिलती तो कभी

काम ही नहीं मिलता कि रोटी मिल सके. उसके इस श्रम में निराई-गुड़ाई-बिनाई जैसे खेती संबंधी सारे काम तो हैं ही, उसके परिवार में पुश्तों से ही हो रहा है. मरे जानवरों को ढोने और उनकी खाल बेचने का काम भी शामिल होता है, यह काम वह इसलिए करता है कि वह चमार है और चमार होने से ज्यादा वह इसलिए करता है क्योंकि उसके पास पेट भरने का दूसरा कोई विकल्प नहीं है, यह बाल मजदूर खेतिहर मजदूर भी हैं, मोची है, होटल का नौकर भी है, सरदार के फार्म हाउस का श्रमिक भी है, दिल्ली में नींबू बेचने वाला है और जाने क्या-क्या है. क्योंकि यह बच्चा चमार है इसलिए वह श्रम बेचने को बाध्य है, और जो श्रम के बदले रोटी दे सकने वाले अहीर, बनिया, जाट, बामन, मुसलमान हैं. उन सबकी मार और गालियाँ सहने के लिए भी. तिस पर जो अपने स्वजातीय बन्धु हैं, वे इसलिए प्रताड़ित करते हैं कि इस बच्चे का परिवार मरे हुए पशुओं की न केवल खाल उतारता है; बल्कि उसका मांस खाकर पेट भी भरता है. ये लोग कौमी चेतना के नाम पर हुक्का-पानी बंद करने, मुँह काला करके गधे पर बिठाने की धमकी तो देते हैं लेकिन इस बच्चे के परिवार का पेट कैसे भरेगा इसके लिए न कोई विकल्प सुझाते हैं और न कोई सहानुभूति रखते हैं.<sup>29</sup> जो जीवन श्यौराज ने जिया उस स्थिति में आज भी हजारों दलित बच्चे हैं. जिन्दगी की वीभत्सता का जिक्र करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है कि "साहित्य में नर्क की सिर्फ कल्पना है, हमारे लिए बरसात के दिन किसी नारकीय जीवन से कम न थे. हमने इसे साकार रूप में जीते जी भोगा है. ग्राम्य जीवन की यह दारुण व्यथा हिन्दी के महाकवियों को छू भी नहीं सकी. कितनी वीभत्स सच्चाई है यह."<sup>30</sup> पेट की आग के लिए इन्हें जूठन का इन्तजार करना पड़ता था और कभी-कभार वह भी नहीं मिलता. कितनी दारुण स्थिति है यह. फिर भी यह समाज सभ्य होने का दावा करता है—"लजाइये नहीं, आराम से खाइये !" परोसने वाले कतारों के पास से आवाज देते हुए गुजरते, "सब्जी" ! "खीर" ! कोई पूछता, "चपाती चाहिए?" "घी लीजिए" ! हम सब इन आवाजों को सुनते तथा भूख से बेहाल हो जाते. पेट कान तक आ जाते, पेट कान बन जाते. पेट कतार के आदमी बन जाते<sup>31</sup> इसी पेट की ज्वाला को बुझाने के लिए बालक सौराज और उनके परिवार को भारी जद्दोजहद करनी पड़ती है—मैली में कुछ अंश रस भी चला जाता था. साथ में रस-धोवन मिलता तो

कहने ही क्या? थोड़ा पानी मिलाकर घर में हम उसे किसी परात या तसले में छानते थे. पहले तो एक-दो गिलास ऐसे ही पी जाते. फिर थोड़ा-बहुत अन्न डालकर पका लेते. कभी बाजरा डाल दिया तो कभी मक्का. चावल डालने का अवसर तो जश्न जैसा होता था. उन अभावों के दिनों में भी जो स्वाद था और संतोष मिश्रित मजबूरी भी. ज्यादा कुछ पाने की न तो कोई संभावना थी और न कोई महत्वाकांक्षा ही जागी थी. हमें भी मनुष्य होने का हक मिले, यह लालसा जन्मी ही नहीं थी तब. चमरि याने में हमारा ही घर ऐसी मजबूरी में था. वैसे अधिसंख्य चमार-भंगियों की स्थिति बेहद खराब थी.<sup>32</sup> भूख हर क्षण विकराल होती हुई असामंजस प्रश्न-श्रृंखला है. होश संभालने से लेकर किशोरावस्था में पाँव रखने तक भूख का एक चिलकता अहसास हर पल बना रहता है. भूख से निजात पाने के अनगिनत कड़वे प्रसंग, अनकथ और कारुणिक प्रयत्न पुस्तक में दर्ज है—नाना जी ने किसी गलती पर मुझे दूर से ही डाँटा तो मेरा पेशाब निकल गया. पेशाब की पतली धार सीधी दाल के बर्तन में गई. मूतता हुआ उठा और उठकर सामने नाली में बाकी पेशाब करके आया. लेकिन डर के मारे किसी को यह नहीं बताया कि दाल खाने लायक नहीं रही बल्कि भूख की तीव्रता में मैं वही पेशाब मिश्रित दाल खाता रहा. बचपन में ही बगारी, मिट्टी काटना, मरे पशुओं को उठाना, उनकी फराई करना (खाल निकालना) चमड़ा बेचना, बूट पालिश, खेती से जुड़े सभी तरह के काम लेखक ने किए. भूख से छुटकारा पाने की नौबत तब भी नहीं आई<sup>33</sup> फिर के एक तबके के साथ उठना, बैठना, उन्हें छूना, साथ भोजन करना, यहाँ तक कि उनकी परछाई पड़ने से भी परहेज किया गया. मनुस्मृति में ब्राह्मणों को शूद्रों का भोजन न करने की सलाह दी गई. यदि किसी ब्राह्मण ने ज्ञानपूर्वक अन्न ग्रहण किया है तो उसे वैसा ही कृच्छ्र-व्रत करना चाहिए मानो उसने शुक्र मल और मूत्र ग्रहण कर लिया हो(4-222) डा० अम्बेडकर लिखते हैं कि आप मनु की भाषा पर विचार करें. उसने शूद्र के भोजन को मल-मूत्र बताया है.<sup>34</sup> सवर्णों के यहाँ काम करने पर भी उन्हें लदोई ही मिलती है वह भी कुत्ते की जूठी. देने वाला यादव बड़ी हिकारत की दृष्टि से देखता है, उन्हें गाली भी दी जाती है. श्यौराज सिंह के ही शब्दों में—उधर मैं कमीज के बगैर सर्दी से काँपने लगा. इसी बीच कनस्तर में भरी लदोई में कुत्ते ने मुँह डाल दिया. मैं उसे भगाने दौड़ा तब तक वह अपनी मुहर

लगा चुका था. कोल्हू में गुड़ वाले आपस में बातें कर रहे थे—‘अरे जाई कोई पूरो लत्ता दे देउ, नाइ तो दिन लिकरे काउ बहू बेटा की नजर इन मनहूस पै परि गयी तो दिन भर को काम—धन्धों खराब है जाइगो. इन चमरनु लदोई दै देउ, थोड़ी मिठास चटाइ के टालौ. इन कमीन बच्चोदनु कौड़ी का सलीका नाँए है. न जाने इन्हें कब अकल आवैगी. इन्हें जल्दी दफा करो, मुँह अँधेरे—अँधेरे जाइ घुसें चमरियाने में. ....” तो लम्बरदार हम जाएँ?” बब्बा ने प्रश्नवाचक मुद्रा से पूछा था. जवाब मिला—“ जाइगो नाइ तौ का नौता(दावत) खाइके जाइगो?” “लम्बरदार” नैक धोवन तो दै देउ. घर जाइके एक मुट्ठी बाजरा डारि कें रांधि खांगें” बब्बा नर्म तो यादव जी और सख्त होकर बोले—“ आज धोबुन माँगि रओ हैं. कलि कूँ रस माँगन लगिये और परसों मिठाई माँगिये. तुम्हारे ही ताँई तो पानी लगाइ—लगाइ कें ईख पालत हैं हम. अरे तुम्हें खवाबन तें तो अच्छों हैं बद्धनु(बैलों) की सानीं करि दें.” “बड्डे ने गुस्से में तनतनाते हुए यह बात कही, तो बब्बा ने दुखी मन से मरियल आवाज में विनती की—“करि देउ लम्बरदार, जो चाहो सो करि देउ, हम सबरू करंगे. इतना बोल कर वे उठ खड़े हुए.” “चल लल्ला चल.” तो बड्डे ने कहा—“सबरू काए को लै जा लदोई, जा में का दोषु है।?” “कुत्ता ने जूठी कर दई है.” मैंने दखल दिया. “अरे इन कमीननु कूँ धोवना देए और टालो.” उनके बेटा अनेगी ने हिंकारत के साथ कहा. बब्बा को लगा, लम्बरदार गुस्सा तो हैं पर वे बगैर कुछ दिए नहीं भेजेगें.

मैं कड़ाही से कुछ दूर बाल्टी का कुन्दा पकड़े खड़ा था कि धोवन मिलने वाला है. लेकिन नहीं, वे तो मैली ही दे रहे थे मुझे”<sup>35</sup>

आधे—एक सेर के लिए या लदोई के लिए सौराज और उनके परिवार को हर प्रकार का काम करना पड़ता था. आजाद देश में उनकी दयनीय दशा की विभिन्न परतें इस आत्मकथा में खुलती हैं— बेशक गुलामी के दिनों का स्मरण वर्तमान का थोड़ा बहुत सम्भावित चैन खोना है, परन्तु जो भूला नहीं गया, उसकी हत्या कैसे और क्यों की जाय? अपनी विरासत में ये गरीबी, जाति अपमान और मानवीय हकों से वंचित रहना पड़ा. आजाद देश में मेरी विरासत सामाजिक गुलामी के बोझ से



लदी रही. क्या मेरे परिजन और मैं आज भी बेघर, भूमिहीन और शरीरी-अशरीरी के शिकार नहीं हैं?

जिन गुजरे दिनों की मैं बात कर रहा हूँ उन दिनों गन्ने की बुआई, ईख की खुदाई, फिर गन्ना छीलने, ढोने, कोल्हू चलाने, भट्टी में खोई-पाती झाँकने यानी हर रिश्ते में हमारा श्रम शामिल था, लेकिन मिलता क्या था? कभी सेर आधा सेर अन्न, कभी दो वक्त की रोटी तो कभी धोवन या लदोई. रस या गुड़ इसलिए नहीं दिया जाता था कि यदि आदत बिगड़ गयी और रस मुँह लग गया तो काम के बदले आने-दो-आने व लदोई भर मेहनताने से संतुष्ट नहीं रह पाएँगे ये चमार. अतः हमारी दशा बंद से बदतर होती रही और सुधार के लिए राज्य या समाज की ओर से कभी कोई प्रयास नहीं हुआ. आजादी मिलने के बाद राज्य ने दलितों के लिए क्या कल्याणकारी काम किए, अकल्याण की पराकाष्ठा में रहते हुए मैं नहीं जानता. मेरे बब्बा, मेरी अम्मा, मेरी बहन, मेरे भाई तक एक किरन भी नहीं पहुँची सुधार और समृद्धियों की.<sup>36</sup> इन हालातों ने तो भूखे रहने की आदत डाल दी थी. डॉ. श्यौराज सिंह बताते हैं-अँधेरा बढ़ने लगा. कंडक्टर और हैल्परों ने नमाज अदा की. एक-एक कर खाना खाने गये. मैं दिन भर का भूखा था. परन्तु एक दो वक्त भूखा रह लेने का अभ्यस्त भी था मैं.<sup>37</sup> एक तो गरीब होना, ऊपर से पाँच वर्ष की उम्र में बाप का बेवक्त गुजर जाना, कितना त्रासद हो सकता है? अपना पेट भरने के लिए भूख से हर रोज संघर्ष करना पड़ता हो, मजदूरी माँगने पर भी न मिलती हो, माँ भी व्यवस्था करने में असमर्थ हो तब भूख की भयावहता का अंदाजा लगा सकते हैं. जब खेतों में चुनने बीनने को अन्न न मिलता तब गोबर से गेहूँ के दानों को धो-धोकर खाते. भूख शान्त करने के लिए मृत गाय का मांस खाने को विवश होना पड़ा हो, विषैले अखाद्य ढड़ायन के पौधे के बीज खा कर रात भर मौत से लड़ते हों, तब भूख से पार पाने के लिए ही समाज के रिवाज से माँ दूसरा घर कर लेती है. वह साथ आए बच्चों को रखना नहीं चाहता और माँ बच्चों को छोड़कर रहना नहीं चाहती. अन्ततः वहाँ से भगा दी जाती है. तब तीसरा पति करती है. बच्चे के लिए तीसरे बाप में इतना सौतेलापन है कि वह अपने बेटा के न पढ़ने पर सौतेले को पढ़ता हुआ नहीं देख सकता. एक सगे बाप के न रहने पर दो सौतेले

बाप भी बालक श्यौराज को नहीं रख पाते हैं. वह अनाथ ही होकर रहता है. दोनो सौतेले इस एकलव्य के लिए अपनी गरीबी और अशिक्षा के चलते द्रोण साबित होते हैं, यहाँ द्रोण दलित पिता के भीतर ही समाया हुआ है तो सहयोग देने वाले दिन भर बेगार के रूप में जमकर बालक का शोषण करते हैं.<sup>38</sup>

ई. एम. एस. नंबूदिरिपाद ने वर्ण व्यवस्था की तुलना दास प्रथा से की है—दास प्रथा के अन्तर्गत एक बहुत बड़ी तादात को खुलेआम दास घोषित करते हुए उन्हें शोषण का शिकार बनाया जाता था जबकि वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत इसी काम को जाति का लबादा पहना कर किया जाता था<sup>39</sup> सभ्य समाज के लोग निकृष्टता की सारी हदें पार कर जाते हैं. प्यास से तड़पते आदमियों को पानी की एक बूँद भी देने से इनकार कर देते हैं. मजबूरी में सारे चमारों को गंदा पानी पीना पड़ता है और उसकी वजह से कई लोगों की जान तक चली जाती है. उसी की वजह से डॉ. श्यौराज आज भी गठिया—बाय की बीमारी का दंश झेलने को विवश हैं. यह सिर्फ उनके जीवन की कटु सच्चाई नहीं वरन् समाज में सदियों से रह रहे एक बड़े तबके की सच्चाई है, जो सवर्णों के शोषण और अत्याचार को झेलने के लिए विवश है.

### 3.3 शिक्षा के लिए संघर्ष :

‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ आत्मकथा की केन्द्रीय समस्या शिक्षा के लिए संघर्ष है। व्यवस्थित, औपचारिक और आसानी से शिक्षा पाना आजाद देश के हर बालक का अधिकार होता है, फिर चाहे वह देश का अछूत बालक श्यौराज ही क्यों न हो।

भारतीय समाज, में एक वर्ग को अछूत घोषित कर दिया गया है और उसकी परछाई से भी परहेज किया जाता है। ऐसी स्थिति में शिक्षा प्राप्त करना कितना कठिन है, इसे सहज ही समझा जा सकता है। मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ में बालक श्यौराज को शिक्षा प्राप्त करने में बेहद अपमान और इतने संघर्षों का सामना करना पड़ा कि साधारण बच्चे की हिम्मत छूट जाय। “अगर डॉ० श्यौराज की जगह पठन-पाठन यात्रा के ऐसे कष्ट किसी सवर्ण लेखक की कलम से आए होते तो उसे निर्विवाद प्रेरणा पुरुष के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जाता, लेकिन डॉ० श्यौराज के साथ ऐसा नहीं किया जा सकता। श्यौराज की यह किताब भारतीय समाज की जातीय व्यवस्था को एकदम नंगा कर देती है। यह समूची सुधारवादी, समतावादी, परिवर्तनवादी कथित राजनीतिक आर्थिक व्यवस्था के सामने नंगी चुनौती बनकर खड़ी हो जाती है। एक ओर यह दलितोत्थान के तमाम मौजूदा प्रतिमानों की सीवनें उधेड़ती है तो दूसरी ओर उतनी ही तल्खी के साथ दलित चेतना के नकारेपन को भी उजागर करती है। जो दलित मृत जानवरों की खाल उतारने और मृत पशुओं का मांस खाने को हेय मानकर इसे त्यागने का संकल्प लेते हैं, वे ही दलित एक दूसरे दलित परिवार की आर्थिक मजबूरियों को समझने में विफल रहते हैं। वे उन मजबूरियों से उबरने में मदद के बजाय मजबूर लोगों का सवर्ण की तर्ज पर शोषण करने में कोई कोताही नहीं बरतते। श्यौराज सिंह की ही बिरादरी का एक ओझा जब श्यौराज के जीजा के इलाज के लिए मेढ़ा और मुर्गा मांगता है और जीजा जी की प्रेत बाधा का कारण श्यौराज की पढ़ाई को बताता है तो एक डरावना सामाजिक विद्रूप उपस्थित हो जाता है।”<sup>40</sup>

श्यौराज का जन्म 1960 में हुआ। भारत 1947 में आजाद हुआ था। और संविधान 1950 में लागू हुआ, किताब में लिखे अनुभव और घटनाक्रम 1960 से 1978

तक की हैं। इस काल खण्ड में एक बालक बाल – अधिकारों, मानवाधिकारों और इंसानियत के सामान्य अधिकारों से भी वंचित है। बालक सौराज को पढ़ने की इतनी ललक है कि वे यहां तक कहते हैं कि 'मुझे पढ़ने को मिले तो मैं अक्षरों के बदले अपने शरीर के खून की बूंदे भी दे दूंगा'<sup>41</sup> निर्दयी भारतीय समाज शिक्षा के बदले श्यौराज से उनका खून ही चूसता है। बेगारी करते वक्त उनके पैर कट जाते हैं और खून बहता है। श्यौराज लिखते हैं " तभी मैंने सोचा कि यह तो पढ़ाई नहीं जुताई करते वक्त खून बह रहा है। श्यौराज तू बेगार की भेट चढ़ने को ज्ञान के लिए शहादत समझ रहा है? मैं ऐसा सोचता हुआ भविष्य में दूर तक देखने की कोशिश कर रहा था। आज भी वह तीन चार इंच कटे पांव का निशान मेरे साथ है। देखते ही सारे घटना क्रम का स्मरण हो आता है। लगता है खून बेकार नहीं गया। पांव कटकर भी मेरा काम आगे ही बढ़ा है पीछे नहीं हटा है। मंजिल की बात मैं नहीं करता , परन्तु कुछ पड़ाव तो तय किये ही हैं। यात्रा अनन्त है मृत्यु के बाद भी चलती रहती है."<sup>42</sup> दलित वर्ग के बच्चों की पढ़ाई में कितनी बाधाएं और मुश्किलें आती हैं इसका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। समाज के ताने सुनने पड़ते हैं, इस बात की भरसक कोशिश की जाती है कि उसे स्कूल में दाखिला न मिले, अगर दाखिला किसी तरह मिल भी गया तो वहां उन्हें कोई पढ़ने नहीं देता है देता। अध्यापक उनसे काम करवाते हैं। गालियां बकते और हिकारत भरी निगाह से देखते हैं। जूठन में बालक ओमप्रकाश स्कूल की हालत बताते हैं कि उनके साथ वहां कैसा व्यवहार किया जाता था— " एक रोज हेडमास्टर कालीराम ने कमरे में बुलाकर पूछा, " क्या नाम है बे तेरा ?"

ओमप्रकाश, मैंने डरते-उरते धीमें स्वर में अपना नाम बताया। हेडमास्टर को देखते ही बच्चे सहम जाते थे। पूरे स्कूल में उनकी दहशत थी . "चूहड़े का है?" हेडमास्टर का दूसरा सवाल उछला।

"जी"

"ठीक है.... वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियां तोड़ के झाड़ू बना ले. पत्तों वाली झाड़ू बणाना. और पूरे स्कूल को ऐसा घमका दे जैसा सीसा. तेरा तो यों खानदानी काम है. जा फटफट लग जा काम पे

“...मेरी कक्षा में बाकी बच्चे पढ़ रहे थे और मैं झाड़ू लगा रहा था. ....” हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली थी. उनकी उंगलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था. जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है. कक्षा से बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका. चीखकर बोले, “ जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू...नहीं तो...मिर्ची डालके स्कूल से बाहर काढ़ दूंगा.” भयभीत होकर मैंने तीन दिन पुरानी वही शीशम की झाड़ू उठा ली. मेरी तरह ही उसके पत्ते सूखकर झरने लगे थे. सिर्फ बची थी पतली-पतली टहनियां. मेरी आंखों से आंसू बहने लगे थे. रोते-रोते मैदान में झाड़ू लगाने लगा.”<sup>43</sup>

जिस समाज में ऐसे लोग बसते हों उसमें रहकर उन्हीं के बीच शिक्षा प्राप्त करना कितना कठिन है जब एक दलित लड़का पढ़ने की ठान लेता है तो उसे ताने दिए जाते हैं. शारीरिक व मानसिक यन्त्रणाएं दी जाती हैं ताकि वह न पढ़ सके.

ओमप्रकाश ने लिखा है कि उनके पिता ने “जिसका दरवाजा खटखटाया यही उत्तर मिला, “क्या करोगे स्कूल भेजके” या “कौवा भी कबी हंस बण सके, तुम अनपढ़ गवार लोग क्या जाणो,विद्या ऐसे हासिल ना होती.”

“अरे ! चूहड़े के जातक कू झाड़ू लगाने कू कह दिया तो कोण सा जुल्म हो गया”। या फिर “झाड़ू ही तो लगवाई है, द्रोणाचार्य की तरियों गुरु दक्षिणा में अंगूठा तो नहीं मांगा।”<sup>44</sup> बात जहां तक इस आत्मकथा की है तो स्कूली शिक्षा को लेकर ‘जूठन’ और इसमें एक भेद यह है कि बालक ओमप्रकाश के पिता शिक्षकों के हिकारत भरे प्रहारों के वक्त ढाल बनकर खड़े होते हैं जबकि ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ के लेखक के तो पिता ही नहीं हैं. सौतेले पिता खुद पढ़ाई के खिलाफ हैं. ऐसे में बालक श्यौराज का संकट ज्यादा गहरा हो जाता है. तमाम संघर्षों अवरोधों के बावजूद श्यौराज पढ़ने का फैसला लेते हैं। सब उनकी पढ़ाई के खिलाफ थे समाज के साथ-साथ उनका घर भी इस बात के लिए तैयार नहीं था कि वे पढ़ें और जिस देश में तमाम पढ़े-लिखे व्यक्ति बेरोजगार बनकर घूम रहे हों वैसी स्थिति में बदहाल आर्थिक स्थिति वाले व्यक्ति तो पढ़ने के लिए सोच भी नहीं सकता। जिसके सामने भूख प्रतिदिन सिर पर राक्षस की तरह मँडराती हो, वह ऐसी स्थिति

में भला क्या फैसला ले सकता है? ऐसे में श्योराज का अडिग विश्वास देखते ही बनता है। “चूँकि बेगार मजूरी की दुनियां से शिक्षा की दुनियां में प्रवेश करने का मेरा निजी फैसला था और घर में कोई मेरा समर्थक या सहायक नहीं था। इसलिए भी घर और बरती से सम्बंध विच्छेद सा हो गया था। मेरा आत्मविश्वास इस खेल में बचपन का दाँव लगा रहा था। जिन्दगी पास-फेल पर निर्भर थी। उसमें भी केवल लिख-पढ़ने भर से किसी की जिन्दगी नहीं सुधर जाती। नियमित स्कूल जाने और हाईस्कूल तक पढ़ाई कर चुके, आरक्षण की श्रेणी में आने के बावजूद बिरादरी के लड़के गाँव में बेरोजगार घूम रहे थे।<sup>45</sup> श्योराज के पढ़ने से उनके भाई और सौतेला बाप चिढ़ते थे। भिकारी नहीं चाहते थे कि उनका सौतेला बेटा पढ़े। ऊपर से जब मास्टर साहब ने रूपसिंह की तुलना में श्योराज के संबंध में जब ये बात कही कि “तुम्हारे छोटा बेटा श्योराज पढ़ने में अच्छा है। यह पढ़ सकता है। आप इसे पढ़ाओ। यह होनहार है। आगे चलकर कुछ-न-कुछ अवश्य बन जाएगा” तब यह बात भिकारी और उसके भइयों के गले नहीं उतरी। उस दिन को शोक का दिन बना लिया गया। भिकारी ने कहा – “छोड़ो आज ते कोड को पढ़ने-बढ़वे की जरूरत नाँइ है। ला किताबें ला, इन दोनों की, डल्ला तू मोइ पट्टी दै।” .... भिकारी ने तमतमाते हुए उठकर सिलौटी उठाई और दोनों पट्टियां चौखट पर रखकर एक-एक कर सिलौटी मारकर तोड़ी और स्कूल के थैले से किताबें निकालकर जब फाड़ना चाहा तो अम्मा ने लपककर झटके से किताबें छीन ली। तब भिकारी ने उछलकर माँ की छाती पर एक लात जमा दी और वह चौखाने चित्त पड़ी। उस वक्त ऐसा लग रहा था जैसे कोई भयंकर भूत या जिन्न भिकारी पर सवार है। मिट्टी के तेल की डिब्बी, चूल्हे के ऊपर ताक में रखी थी। भिकारी ने किताबों पर तेल उलेड़कर माचिस की तीली दिखा दी। किताबें जल उठी। पट्टियों ने भी आग पकड़ ली। इस काम को अंजाम दे उन्होंने संतोष की साँस ली। ऐसा करके उसने सोचा कि चलो हमने-सौराज के विद्यार्जन का मार्ग हमेशा के लिए बंद कर दिया।<sup>46</sup>

फिर भी श्योराज हिम्मत नहीं हारे; बल्कि और भी दृढ़ हो गए जैसे इन सबको सहने की आदत पड़ गई हो। उनका लक्ष्य डिगा नहीं; वे उन्हीं परेशानियों

के बीच अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते रहे। "किताबें जलाकर उन्होंने मेधा और जिज्ञासा की देह पर अंगारे भले ही फेंके हो, लेकिन दग्ध आत्मा मरी नहीं। सुरक्षित ही रही। यह बात और है कि इस अज्ञानता ने कलेजा, मुँह को ला देने वाले अनुभवों का सामना हजारों बार करया है।"<sup>47</sup> पैसे के अभाव में किताबों का खरीद पाना असंभव था उन्हें प्रतिदिन इसी ताक में रहना पड़ता था कि कहीं से चार-छह आना मिले तो पुस्तकें खरीदी जाय। वे मजदूरी करके रोटी खाते थे और फुटपाथों पर बिकने वाली किताबों के गीतों को लय स्वर से गाते थे। उन्हें कबीर, रैदास के लोक प्रचलित भजन कंठस्थ थे। कहीं भी कुछ लिखा रहता श्यौराज उसे पढ़ते "मैं ताजा या बासी अखबार पढ़ने का प्रयास करता था। जहां तहां कोई पर्चा भी रास्ते में मिल जाता तो मैं उसे उठाकर पढ़ने का प्रयास करता था। रददी पत्रिकाएं, सड़कों, दीवारों के बोर्ड मेरे लिए किताबों के खुले पृष्ठ जैसे ही थे। मैं उन्हें खूब पढ़ा करता था।"<sup>48</sup> मौसा जी के यहां आए सौराज को अपनी जीविका खुद तलाशनी थी, अपना खर्च खुद उठाता था। वे बताते हैं कि मौसा के यहां वे 'पेइंगगेस्ट' की तरह रहते थे। उनके सामने विकट समस्या थी कि अपनी भूख का इन्तजाम करें या पढ़ाई करें। भोर में ही उठकर उन्हें नीबू बेचने जाना पड़ता था और फिर स्कूल जाना। इस कारण उन्हें अकसर देर हो जाती थी। देर से घर लौटने पर मौसा की ये बातें सुननी पड़ती है। मौसा भी उन्हें स्कूल जाने से मना कर रहे थे, "सौराम की जिन्दगी सुधरनी होगी और भगवान चाहेगा तो बिना स्कूल जाए भी सुधार जाएगी, ऊपर वाले को पढ़ाना होता तो इसके बाप को क्यों उठा लेता ? और फिर हमारे चाहने से सौराम नहीं पढ़ सकता। ऐसे लाखों-करोड़ों बच्चे हमारे देश में नहीं पढ़ पाते। बेचारे काम करके पेट भरें, या स्कूलों में जाकर पढ़ें? किस्मत खराब न होती तो क्या पहले ही दिन लेट होता।"<sup>49</sup>

कठिनाइयां पढ़ने पर उनसे टकराने और उसे सुलझाने के बजाय भाग्य और भगवान के भरोसे रहना श्यौराज ने नहीं सीखा था। वे धर्मग्रंथ, सामाजिक व्यवस्था को चुनौती देते हैं यहां तक कि भूख को भी चुनौती देकर भी शिक्षा हासिल करना चाहते हैं, और करते भी हैं। "भूख से लड़ना बालक श्यौराज की पहली प्राथमिकता कभी नहीं रही। यह स्थान शिक्षा के लिए तय रहा। उसके सारे प्रयत्नों की दिशा

शिक्षा प्राप्ति की ओर उन्मुख रही। स्कूल जाना उसके लिए दुर्दमनीय आकांक्षा थी। जीवन की सार्थकता का अनुभव यहीं से जन्मता रहा। जिजीविषा का यही स्रोत रहा। जोड़ तोड़कर अक्षर ज्ञान कर लेने के बाद बालपोथी, गीतों, हिस्सों की किताब पढ़ना उसने किसी भी हाल में बनाये रखा; इसी व्यसन ने उसे अन्य व्यसनों से बचाया और उम्मीद की लौ कायम रखी। लेखक ने पूरी तफसील से दोहराव का खतरा उठाते हुए शिक्षा के प्रति अपनी आसक्ति और उससे उपजी कोशिशों का हवाला दिया है। जब वह किसी दलित परिवार का परिचय देता है तो वह बताना नहीं भूलता कि उसकी शैक्षिक स्थिति क्या है। शिक्षा के प्रति यह लगाव लेखक को अम्बेडकरी आंदोलन का हिस्सा बनता है।<sup>50</sup> आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण लोगों की पहली प्राथमिकता रोटी होती है और जिस समाज में चाहने पर भी पढ़ने न दिया जाता हो; वहां तो समस्या और भी विकट है। तमाम अवरोधों के कारण दलित वर्ग के बच्चे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में विफल रहते हैं। आंकड़ों के अनुसार देखें तो दलित वर्ग से आने वाले बच्चे, जिनकी पढ़ाई बीच में छूट जाती है, उनका प्रतिशत ज्यादा है। "पूना-पैक्ट 1932" के समझौते के अनुसार दलित शिक्षा के लिए राज्य को विशेष कोष की व्यवस्था करनी थी, जिसका उद्देश्य दलितों में तीव्र गति से शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य पर आ पड़ा। आधिकारिक आंकड़ों से सिद्ध होता है कि इस संदर्भ में राज्य की भूमिका संदिग्ध रही है, यद्यपि सरकार अपने आँकड़ें, बढ़ चढ़ाकर प्रस्तुत करती है। स्वतंत्रता मिलने के पांच दशक बाद भी दलित जनसंख्या का एक बड़ा भाग अशिक्षित है और 6 से 11 वर्ष के अवधि के लगभग एक तिहाई बच्चे प्राइमरी स्तर की शिक्षा में नामांकन से वंचित रह जाते हैं, जिन्हें प्राइमरी स्तर पर नामांकन मिल जाता है उनमें से 79.88 प्रतिशत अनु. जाति और 86.072 प्रतिशत अनु. जनजाति के बच्चे मैट्रिक तक आते-आते पढ़ाई छोड़ जाते हैं। मानव संसाधन मंत्रालय द्वारा प्रकाशित दस्तावेज (चुनिदे शैक्षणिक आंकड़े 1992-93) के अनुसार - स्नातक स्तर से नीचे तक नामांकित कुल अनु. जाति और अनु. जनजाति के छात्रों का लगभग 84.11 प्रतिशत समाजिक विज्ञान संस्थाओं से संबंधित है और स्नातक स्तर में लगभग 88.31 प्रतिशत गैर विज्ञान एवं गैर तकनीकी विषयों में नामांकित हैं। शोधाकार्य में दलितों की उपस्थिति नगण्य है। शिक्षा के अधिकांश महत्त्वपूर्ण केन्द्र अभी भी उनके लिए बंद है। देश के शैक्षणिक



जीवन से दलित लगातार अलग बने हुए हैं। इसलिए देश की चिन्तन प्रक्रिया में सम्पूर्ण जनसंख्या का प्रतिनिधित्व नहीं होता है।<sup>51</sup> ऐसी तमाम समस्याओं के बावजूद सौराज किसी भी हाल में पढ़ाई जारी रखना चाहते थे। स्कूल जाते वक्त उन्हें बैग में रांपी रखनी पड़ती थी, जिससे वे मरे पशुओं की छाल उतार सकें और उन्हें कुछ पैसे मिल सके। बैग में रांपा रखने के कारण वे हर वक्त डरे-डरे रहते थे कि कहीं किसी को कुछ पता चला तो वे स्कूल से निकाल दिए जाएंगे। पहले ही दिन में पकड़े में रांपा छिपाकर किताबों के बीच बस्ते में रखकर स्कूल तो गया, लेकिन उस दिन मेरा सारा ध्यान 'रांपे' ही पर रहा। दूसरे बार-बार मन में आता कि मुर्दा पशु की खाल उतारने वाले इस औजार से घिना कर कहीं विद्या देनी सरस्वती मेरी किताबों से बाहर न चली जाए। ..... मैं पेशाब करने जाता तो भी बस्ता छोड़ते हुए डरता। खड़े होकर पाठ पढ़ूँ तो डर लगा रहता कि कोई अन्य छात्र मेरे थैले में हाथ न डाले दे। तरह-तरह की आशंकाओं से चिंतित हुआ। पूरे दिन पढ़ा कम, परेशान अधिक रहा। आखिर चित्रकला के अध्यापक ने पूछ ही लिया कि ऐसा क्या नया दबाए हो थैले में, जो हर वक्त संग-संग रखे रहते हो श्यौराज ? मैं जैसे कूमिल (संध) पर चोर को धर दबोचा हो ! मेरा दिल काँप उठा।<sup>52</sup> भारतीय समाज में गरीब व्यक्ति को उतनी समस्याएँ नहीं झेलनी पड़ती जितनी अछूत को। गरीब व्यक्ति को खाना मिल सकता है। लेकिन अछूत को कोई बैठने भी नहीं देता, खाना खिलाना तो दूर। संविधान में उल्लिखित 'समानता का अधिकार— किस रूप में लागू दिखाई देता है ? न आर्थिक न ही सामाजिक किसी भी रूप में यह लागू नहीं है। भारतीय समाज 'मनु' की बनाई व्यवस्था से संचालित होता है जिसमें दलितों को हर अधिकार से वंचित रखने का ताना-बाना बुना गया है।

"गरीब होना बुरा पर इतना नहीं, जिनता कि अछूत होना गरीब स्वाभिमानी हो सकता है किंतु अछूत नहीं हो सकता निम्न होना बुरा है पर इतना नहीं, जिनता कि अछूत होना निम्न व्यक्ति ऊपर उठ सकता है किंतु अछूत नहीं उठ सकता।"<sup>53</sup>

— बाबा साहेब

बालक श्यौराज तो गरीब और अछूत दोनों है। उसके ऊपर दोहरी मार पड़नी थी। भारत के महानता की गुणगाथा गाने वाले लोगों को आँख खोलकर

बढ़ रही है, दलितों का दालित्य, दरिद्रता और सवर्णों की समृद्धि सवर्णता और जातीय विद्वेष की भावना बढ़ती जा रही है। दोनों के बीच रिश्ते, तनाव और द्वेषपूर्ण हैं। जातिभेद के साथ-साथ अर्थभेद गहरा होता जा रहा है। इधर के दशकों में लगने लगा है कि गांधी जी झूठे साबित होते जा रहे हैं और डॉ. अम्बेडकर की कई आशंकाएं सच होती जा रही हैं, जिसमें से एक यह है कि 'अंग्रेजों के जाने के बाद दलितों पर गैरदलितों का राज होगा।'<sup>55</sup> गैरदलित सभी क्षेत्रों में शीर्ष स्थानों पर हैं, दलितों की भूमिका नगण्य है। पढ़ लिख लेने के बाद भी सामंजस्यता नदारत है। उच्च शिक्षण संस्थानों आदि में भी उनके साथ भेद-भावपूर्ण व्यवहार कायम है। मसलन कम नम्बर देना, फेल कर देना इत्यादि। यही स्थिति नौकरी जगत् में भी है। मौलिक अधिकारों की सूची में 'शिक्षा का अधिकार' कहने मात्र के लिए शामिल है। शिक्षा जगत् में व्यापक भेदभाव, अनीति और भ्रष्टाचार बड़े पैमाने पर शामिल है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दलित बालकों को गैर दलित मास्टर शिक्षा देने से परहेज करते हैं। जब श्यौराज अपनी मौसी से यह पूछते हैं कि वे अपने बालक को क्यों नहीं पढ़ाती तो उनका यही जवाब होता है "का करूँ भैया एक तो स्कूल में चमार —भगिनु के बालकनु गैर —जात के मास्टर पढ़ावनों नाँय चाहत।" पढ़ने की अदम्य लालसा रखने वाला बालक श्यौराज जो अपनी मां के शरीर पर उभरे नीले दागों पर हल्दी पोतते हुए यह महसूस करता है कि माँ की देह पर अक्षर छपे हुए हैं और मां की देह एक पूरी किताब हो गई है, उसके सामने स्कूल में छात्र-छात्रा पढ़ रहे हैं लेकिन वह नहीं जा सकता। ऐसे अवसर पर उनके मन की कुछ अभिव्यक्ति चंद लाइनों में कुछ ऐसी थी—

“खुले हुए विद्या मन्दिर  
के दरवज्जे पर  
बना पुजारी सा बैठा हूँ  
पर मेरे आराध्य—ज्ञान तुम  
मुझ से दूर—दूर क्यों हो ?”<sup>56</sup>

शिक्षा ही उनका आराध्य है, इतनी ढेर सारी अड़चनों में उनका मन कितनी बार टूटा होगा इसकी कोई गणना नहीं लेकिन उन्होंने कभी हार नहीं मानी; विपरीत

परिस्थितियों में भी आगे बढ़ने का संकल्प त्याग नहीं पाए। शिक्षा प्राप्त करने के लिए वाकई में बड़ी जीवट साधना उन्होंने की। स्कूल के लिए जब कमरे तैयार किये जा रहे थे। तब बालक श्यौराज ईट-गिलाया ढोते हुए भी कविताओं की पंक्तियां बनाने में तल्लीन रहते थे; - "मैं ईट गिलाया रहा था और काम के साथ-साथ अपना एक मौलिक गीत भी गुनगुना रहा था। वह गीत उस वक्त की एक ताजा तुकबंदी थी -

चलो स्कूल करें तैयार  
पढ़ लिखें हो जावें हुशियार  
गाँव को और बड़ों होइ नाम।

उनकी कविता स्कूल के शिक्षक श्री कुँवर बहादुर सिंह यादव के कानों में गयी। वे तुरन्त उनके पास गये और पूछने पर पता चला कि उसे श्यौराज ने तुरन्त बनाया है। 'तो उन्होंने आश्चर्य के साथ स्कूल पर काम कर रहे बस्ती के लोगों से तसल्ली करनी चाही। दयाराम चच्चा के साथ-साथ नरायन, मुंशी, शिशुपाल, बैजू, रमचन्दी, डोरी आदि सभी लोगों ने एक स्वर में कहा - "मास्साब, जो तो रोज ऐसी कविताएं बनातु रहतु है। जैसे रैदास को अवतार होइ।"<sup>57</sup>

बालक श्यौराज पढ़ना तो बहुत चाहता है लेकिन अपनी परेशानियों के कारण मजबूर है। भूख, गरीबी, समाज, व्यवस्था सबसे उसे पहले लड़ना था। और इस लड़ाई में वह अकेला था। उनका घर-परिवार भी भूख गरीबी से जूझ रहा था। चूँकि श्यौराज का एक लक्ष्य था, जिसके लिए उन्हें अतिरिक्त मेहनत और संघर्ष करना था। वे लिखते हैं कि प्रधानाध्यापक ने मुझसे पहला प्रश्न किया - "क्या तुम पढ़ना चाहोगे?" उन्होंने मेरी दुःखती नस पकड़ ली थी। मेरा जवाब था - 'पढ़नौ तौ मैं बहुत चाहतु हूँ, पर पढ़ेंगे तो खाऊँगे का ? खान कूँ काम कौन करेगो ? मैं काम नाँय करँगे तो खाऊँगे कहां ते और स्कूल में जाइके कौन सी क्लास में बैठंगो ?"<sup>58</sup>

भारतीय समाज में दलितों का शिक्षा प्राप्त कर पाना बेहद कठिन है। साथ-साथ उन्हें तमाम जिल्लतों का भी सामना करना पड़ता है। सरकारी सुविधाएँ नाम मात्र की हैं। उसका लाभ उन तक नहीं पहुँच पाता। दलितों के लिए तय किया

गया वजीफा बीच में ही मार लिया जाता है, फायदा उठाने वाले दूसरे लोग होते हैं। यहीं नहीं, दलित बच्चों की ओर सवर्ण हिकारत के भाव से देखते हैं और बात-बात में उन्हें रिजर्वेशन और वजीफा के लिए ताने भी मारते हैं। सरकारी सुविधाओं का लाभ कौन और कैसे ले रहा है, इसका खुलासा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आत्मकथा में वजीफे के प्रसंग में होता है, "प्रेमपाल सिंह यादव ने पहली बार छात्रवृत्ति के लिए मेरा फार्म भरवाया था। हस्ताक्षर कराये थे। .....वजीफा के पैसे का दर्शन मैंने आठवीं, नवीं, दसवीं तक नहीं किये। जबकि फार्म हर साल भरता रहा, रियायती दर पर पढ़ने का अहसान लगा। छात्रवृत्ति का एक नया पैसा भी मैंने नहीं देखा, जबकि क्लकों से सुनने को मिलता था—एस. सी. पढ़ते ही वजीफा के लिये हैं" प्रेमपाल सिंह से एक दो बार पूछा भी था—'तुम वजीफा की मत सोचा करो..... तुम पैसे की चिन्ता मत किया करो, पैसा भौतिक वस्तु है। ज्ञान आध्यात्मिक चीज है। इसलिए तुम ज्ञान प्राप्ति के पुण्य कर्म के सिवाय और कोई आकांक्षा मन में पनपने मत दिया करो। सरस्वती और लक्ष्मी का बैर होता है...."<sup>59</sup> यहाँ सवर्ण अध्यापकों के चरित्र को बेहतर समझा जा सकता है। जिन गुरुओं को आदर्श मानकर समाज उन्हें पूजता है और उनके पास अच्छे गुण, संस्कार लेने के लिए जाता है, उन अध्यापकों का असली चेहरा कैसा होता है। वे गरीब, ईमानदार, दलित बच्चों का पैसा खाने और उनका तरह-तरह से शोषण करने में जरा भी संकोच नहीं करते। अपनी आत्मकथा में डॉ० श्यौराज लिखते हैं, " एक दिन मेरे भूगोल विषय के शिक्षक चौधरी रघुनाथ सिंह साइकिल के पहिये में पंचर हो जाने से मेरे निवास पर साइकिल छोड़ने के उद्देश्य से अचानक आ गये.....दरवाजा खुला था और मैं चाकी पीस रहा था। घुटन्ना बनियान पहने जोर-शोर से चाकी चलाते हुए कुछ गुनगुना रहा था। छप्पर में घुसते ही उन्होंने मेरा नाम पुकारा—श्यौराज ! श्यौराज !! आवाज जैसे ही मेरे कानों में गई, मैं तुरन्त चाकी रोक उठ खड़ा हुआ। आटा उड़-उड़ कर मेरे मुँह पर आ गया था जैसे पाउडर लगा रखा हो। मास्साब को देखा और अपने आप को देखा तो मैं झेंप गया। अब मैं कहाँ छिपता और कहाँ छिपाता अपनी दयनीय स्थिति को। मैं नहीं चाहता था कि वे अब और अन्दर बढ़ें..... वे बोलते-बोलते अन्दर तक घुस आये। आकर उन्होंने साइकिल खड़ी की। मुझे लगा

मास्साब ने देख लिया है कि मेरे ओढ़ने-बिछाने, रहने-खाने की कैसी दरिद्र व्यवस्था है.

रजाई की जगह भैंस की झूल ओढ़ता था. चाकी 'भिरी' में फँसा आटा तो उन्होंने देखा ही. अपनी विपन्नता की बेपर्दगी के अहसास से मैं थोड़ा परेशान हो गया था. क्योंकि हमारा स्वभाव विपन्नता छिपाने का ही रहा है.....साइकिल खड़ी कर के वे पैदल जाने लगे तो बोले—“शयौराज क्या तुम स्कूल नहीं आओगे?”. “आऊँगा मास्साब पर आप चाहें तो मेरी साइकिल लें जायें. मैं पैदल आ जाऊँगा.” मैंने अपनी साइकिल उन्हें दे दी. पूछने का उनका आशय भी यही था और जब तक बरसात रही उन्होंने मेरी साइकिल वापस नहीं दी, जबकि अपनी साइकिल भतीजे को भेज कर मँगवा ली और मैं पैदल हो गया था.”<sup>60</sup>

शयौराज को अपनी पढ़ाई के लिए खुद सारे इन्तजाम करने थे। “किताबें, रोटी और कपड़े भी चाहिए थे जिनका इन्तजाम मुझे खुद करना था। बुनियादी जिम्मेदारियाँ उठाने के लिए मेरा कोई अभिभावक नहीं था।”<sup>61</sup> इन सबके बाद घर की ऐसी परेशानियाँ थी जो उन्हें पढ़ाई करने से रोकती थीं। अपनी पढ़ाई के लिए शयौराज अपने शिक्षक प्रेमपाल यादव के यहाँ मजदूर बनना स्वीकार कर लिया। “तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद बालक शयौराज पढ़ाई की चाहत नहीं छोड़ता. जब एक आर्य समाजी यादव अध्यापक पढ़ाई के लिए सशर्त सहायता की पेशकश करता है तो समझदार होता बालक शयौराज इस अध्यापक का बंधुआ ही होकर रह जाता है. अध्यापक के घर खेत जानवरों के साथ उसे इतनी मेहनत करनी पड़ती है कि एक नौकरी पर रखा हुआ मजदूर भी न कर सकें जब शयौराज को कोई अपरिहार्य भौतिक जरूरत महसूस होती है तो यह अध्यापक भौतिक मदद करने के बजाय नैतिक आध्यात्मिक उपदेश तो देता है लेकिन कोई अतिरिक्त मदद नहीं करता लेकिन इसके बावजूद इस अध्यापक के प्रति शयौराज की कृतज्ञता कम नहीं होती पढ़ाई के लिए एक विद्याकामी चमार बच्चे को जितनी जिल्लतें झेलनी पड़ती हैं, किसी गैर दलित के संदर्भ में उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती.”<sup>62</sup> शयौराज लिखते हैं कि वे मुझसे हाड़तोड़ काम क्यों लेते हैं केवल रोटी के बदले. मेरी मेहनत का दशांश भी दे दिया करें तो मेरा खर्चा चलता रहे. आखिर मुझे

मेरा शोषण अखरने लगा. शोषण पाप क्यों नहीं? ईश्वर भक्ति में किसी का दोहन क्यों शामिल है? दयानन्द सरस्वती के 'सत्यार्थ प्रकाश' में मेरी इस समस्या का समाधान क्यों नहीं है.....मेरे पास दाल आटे की कमी होती थी. प्रेमपाल सिंह को संकट से अवगत कराता तो वे कहते—“ आदमी का इरादा पक्का होना चाहिए . हिम्मत और लगन होनी चाहिए. तुम होनहार हो. तुम सब बाधाएं पार कर जाओगे” ऐसे ही शब्दों से वे मुझे बहला देते थे. किन्तु पेट शब्दों से नहीं भरता था. वे यदि मुझे अपने घर का नौकर मानकर ही मेरी मजूरी का कुछ भाग भी देते रहते तो भी मैं भूखा नहीं मरता और रूखी सूखी रोटियां खाकर गुजारा कर लेता”.<sup>63</sup> प्रेमपाल सिंह यादव श्यौराज से कहते हैं कि हमारे देश कि वैदिक विद्या पद्धति में भिक्षा मांगकर छात्र पढ़ा करते थे. इस तर्क का उनके पास कोई जवाब नहीं था. श्यौराज एक सवाल उठाते हैं— क्या चमार भिक्षा मांग सकता है? क्या किसी गैर ब्राह्मण को भिक्षा मिल सकती है? डा. श्यौराज सिंह के जीवन में और शिक्षा प्रप्ति में आने वाली इतनी बाधाओं का कारण मात्र उनकी गरीबी ही नहीं थी बल्कि इसका मुख्य कारण उनका दलित होना था. दलित होने के कारण ही उन्हें कई स्तरों पर संघर्ष करना पड़ता है. दलित बच्चे के लिए विद्यार्जन करना बहुत कठिन काम है. इसमें उसकी जाति ही सबसे बड़ी बाधा बनकर उभरती है.

यह आत्मकथा लेखक के बचपन और शिक्षा में हाईस्कूल तक का चित्रण है. जो साहित्य इस कृति में आया है वह लेखक के गुण के कारण है. क्योंकि लेखक पत्रकारिता विषय में पी0 एच0 डी0 और कथा-साहित्य में डी. लिट्. तक की उपाधियां प्राप्त हैं. इससे आशा बधती है कि हाईस्कूल के बाद की यात्रा अगले भाग में अवश्य ही ज्ञान वर्धक रहेगी. इस कृति का हर संवेदनशील पाठक चाहेगा कि कृतिकार बालक के संसार को बदला जाय.

## संदर्भ

- <sup>1</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 21 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>2</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 21 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>3</sup> दलित बाल शोषण का दस्तावेज :- केदार प्रसाद मीणा( पाखी, अगस्त 2010 पृ 78)
- <sup>4</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 27 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>5</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 29 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>6</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 29 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>7</sup> वही, पृ 33
- <sup>8</sup> वही, पृ 39
- <sup>9</sup> वही, पृ 39
- <sup>10</sup> चेतना को चीरता बचपन — विभ्यांजु दिव्याल ( सम्यक भारत अक्टूबर 2009 पृ 36)
- <sup>11</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 41 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>12</sup> श्यौराज सिंह की बेचैन यात्रा से गुजरते हुए — राजेन्द्र बड़गूजर ( दलित टुडे नवम्बर 2009 पृ 40)
- <sup>13</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 50 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>14</sup> वही 53
- <sup>15</sup> वही 65
- <sup>16</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 76 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>17</sup> वही 150
- <sup>18</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 170 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>19</sup> दलित बाल शोषण का दस्तावेज — केदार प्रसाद मीणा ( पाखी, अगस्त 2010 पृ 78)
- <sup>20</sup> शुक्रवार, वर्ष 4 , अंक 2 , 13-19 मई 2011 पृ 38
- <sup>21</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 242 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>22</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 339 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>23</sup> वही, पृ 284
- <sup>24</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 43-44 ; वाणी प्रकाशन , प्रथम संस्करण — 2009
- <sup>25</sup> जूठन — ओमप्रकाश वाल्मीकि , पृ. 34 ; राधाकृष्ण पेपरबैक्स संस्करण 2006
- <sup>26</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन , पृ. 30-31 ; वाणी प्रकाशन , प्रथम संस्करण — 2009
- <sup>27</sup> वही , पृ. 30-31
- <sup>28</sup>
- <sup>29</sup> हंस— फरवरी 2010 पृ. 78
- <sup>30</sup> जूठन — ओमप्रकाश वाल्मीकि , पृ. 35 ; राधाकृष्ण पेपरबैक्स संस्करण 2006
- <sup>31</sup> अक्करमाशी — शरणकुमार लिम्बाले पृ. 39 ; वाणी प्रकाशन संस्करण 2009
- <sup>32</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन , पृ. 192; वाणी प्रकाशन , प्रथम संस्करण — 2009
- <sup>33</sup> कथादेश दिस. 2009 पृ. 72
- <sup>34</sup> दलित विमर्श की भूमिका—कँवल भारती पृ. 35; इतिहासबोध प्रकाशन संस्करण 2007
- <sup>35</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन , पृ. 196 वाणी प्रकाशन , प्रथम संस्करण — 2009
- <sup>36</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर — श्यौराजसिंह बेचैन , पृ. 193 ; वाणी प्रकाशन , प्रथम संस्करण — 2009
- <sup>37</sup> वही 237

- 38 एक और एकलव्य – रमेश चन्द मीणा , दलित विमर्श और साहित्य – सं – द्वारकाप्रसाद चारुमित्र ; सांचा प्रका. पृ 148
- 39 भारत का स्वाधीनता संग्राम – ई. एम. एस. नंबूदिरिपाद पृ. 15 ,ग्रंथ शिल्पी प्रका. संस्करण 2004
- 40 सम्यक भारत, अक्टूबर 2009 पृ. 38
- 41 मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 350 वाणी प्रकाशन 2009
- 42 वही, पृ 350
- 43 जूठन – ओमप्रकाश वाल्मीकि पृ14-15
- 44 वही पृ 17
- 45 मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 338 वाणी प्रकाशन 2009
- 46 वही पृ 57
- 47 मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 57 वाणी प्रकाशन 2009
- 48 वही पृ 211
- 49 मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 215 वाणी प्रकाशन 2009
- 50 कथादेश , दिस. 2009 पृ 72 ( विमर्श नहीं दलित जीवन कथा- बजरंग बिहारी तिवारी)
- 51 चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य- डा. श्यौराजसिंह बेचैन , डा. देवेन्द्र चौबे ; पृ 25 नवलेखन प्रकाशन 2001
- 52 मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 386 वाणी प्रकाशन 2009
- 53 चिन्तन की परम्परा और दलित साहित्य- डा. श्यौराजसिंह बेचैन , डा. देवेन्द्र चौबे ; पृ 115 नवलेखन प्रकाशन 2001
- 54 योद्धा बनें हर दलित – महाश्वेता देवी ( दैनिक हिन्दुरतान, 6 दिस. 2009)
- 55 मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 59 वाणी प्रकाशन 2009
- 56 मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 317 वाणी प्रकाशन 2009
- 57 मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 301 वाणी प्रकाशन 2009
- 58 वही, 302
- 59 मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 361 वाणी प्रकाशन 2009
- 60 वही 375
- 61 वही, 302
- 62 चेतना को चीरता बचपन – विम्याशु दिव्याल (हंस, फरवरी 2010, पृ 79)
- 63 मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराजसिंह बेचैन ; पृ. 339-340 वाणी प्रकाशन 2009



## अध्याय चार

### भारतीय समाज में स्त्री

4.1 दलित समाज में स्त्री

4.2 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में स्त्री

## 4.1 दलित समाज में स्त्री

प्राचीन काल से ही स्त्रियों का स्थान पुरुषों से नीचे रखा गया. स्त्री चाहे कुंवारी हो , विवाहित हो अथवा विधवा हो उसके लिए रहने ढंग के और अलग अलग नियम कानून बनाए गए. सारे अधिकार छीनकर उनके लिए मात्र पुरुषों की सेवा का कार्य तय कर दिया गया . भारतीय समाज में जो भी नियम बने उसे धर्म से जोड़कर स्थायित्व प्रदान किया गया. पुरुष को समाज में देवता का स्थान मिला और स्त्री को दासी का, भोग्या और अबला का. उनकी स्वयं की इच्छा से किए गए कार्य का निषेध किया गया तथा स्वर्ग, नरक पाप— पुण्य की तमाम अवधारणाओं के माध्यम से रोकने की कोशिश की गई .

भारतीय समाज में औरत प्रत्येक काल में शोषित की गई. 'ऐतरेय ब्राह्मण ग्रंथ उसी नारी को उत्तम समझता है, जो अपने पति को संतुष्ट करती है , पुत्र संतान को जन्म देती है और पति से बढ़ चढ़ कर कभी कुछ नहीं कहती. तैत्तरीय संहिता के अनुसार "चूंकि यज्ञ में एक दंड(लाठी) को दो वस्त्रों के टुकड़ों से लपेटा जाता है, अतः पुरुष को दो पत्नी ग्रहण करने का अधिकार है. चूंकि एक कपड़े के टुकड़े को दो लाठियों में नहीं लपेटा जाता , इसलिए नारी को द्विपतित्व की मनाही है". आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार 'नारी के लिए उपनयन संस्कार , होमन्हवन, वेद अध्ययन निषिद्ध है. कुलवधू एवं गणिका दोनों रूपों में स्त्री का मात्र एक ही लक्ष्य है — पुरुष की भोग तुष्टि करना"<sup>1</sup> यहां तक की स्त्रियों की समानता जानवरों से की गई. ' आपस्तम्ब धर्मसूत्र ' के अनुसार काली चिडिया , गिद्ध , नेवला , छछुन्दर और कुत्ते की हत्या करने पर जो प्रायश्चित करना पडता है, नारी हत्या एवं शूद्र हत्या करने पर भी वही प्रायश्चित करना पडता है."<sup>2</sup> स्त्रियों को पुरुषों से कमतर बताने का विधान महज हिन्दू धर्म में ही नहीं है, अपितु मुस्लिम धर्म भी यही मानता है. " मुस्लिम धर्मग्रंथ 'सूरा बकारा' की आयत 223 में स्त्री को उसके पति द्वारा चरने के लिए तैयार अनाज का खेत' कहा गया , तो बहिश्त की कुंजी' में स्त्री को

कुछ नसीहतें दी गई हैं कि " आपके पति आपको जैसा चलाना चाहें ,आप उसी तरह चलिए और वे जैसा भी करें, आप उसी में संतुष्ट रहें. किसी भी काम में और किसी भी बात में उनके खिलाफ मत जाइए"<sup>3</sup> धर्मग्रंथों में कहा गया कि पति चाहे लोभी हो ,लम्पट हो ,कामी हो,कोढ़ी हो, कायर हो वह स्त्री के लिए देवता समान है. स्त्री को हमेशा अपने पति की पूजा करनी चाहिए ,एवं अपने पतिव्रत धर्म का पालन करना चाहिए. ऐसा करने पर उन्हें वैकुण्ठ की प्राप्ति होगी,एवं देवगण भी उनके सामने अपना सिर झुकाएंगे.

'स्त्री-पुरुष तुलना' में ताराबाई दो प्रकार की स्त्रियों के बारे में लिखती हैं—"एक विवाहित दूसरी विधवा. स्त्री धर्म क्या है? निरंतर पति की आज्ञा का पालन करना,उसकी मर्जी से उठना-बैठना ,वह चाहे लात मारे ,गालियां दे सौत रखे,चाहे पति देव शराब पीकर,जुआ खेलकर ,जेब खाली करके, चोरी करके या किसी की हत्या करके भी घर पधारें ,तब भी पत्नी को जैसे कोई कृष्ण महाराज गोपियों से दही-दूध चुरा कर आए हैं, यह मानकर उन्हें परमात्मा समझते हुए खुशी-खुशी उनकी पूजा करनी चाहिए,सेवा करनी चाहिए यही है स्त्री धर्म"<sup>4</sup>स्त्री के सारे अधिकार छीनकर पुरुषों ने उनके शोषण के द्वार खुले रखे हैं. वह चाहे घर में काम करती हो अथवा बाहर उसकी स्थिति में कोई विशेष फर्क नहीं है. एक ओर उसे घर गृहस्थी देखनी पड़ती है दूसरी ओर बाहर का काम फिर भी उसके धन पर उसका कोई अधिकार नहीं रहता. समाज उसे हमेशा से ही कमजोर समझता रहा है.उसे अबला की संज्ञा देता है. जबकि ग्रामीण क्षेत्र में देखें तो स्त्रियां भी पुरुषों के साथ खेतों में उतना ही श्रम करती हैं.बावजूद इसके उन्हें गृहस्थी और बच्चों को भी संभालना पड़ता है.शहरी क्षेत्र में अगर महिला कामकाजी है तो उसे भी घर गृहस्थी संभालनी ही है. इन सब के बावजूद भी वह पति की मारपीट , घरेलू हिंसा की शिकार होती है. "भारतीय समाज में नारी की स्थिति अत्यंत दयनीय है. पुरुष से हमेशा छोटी और कमजोर समझी जाने वाली यह नारी गांवों और शहरों में पुरुष की अपेक्षा अधिक श्रम करती है . ग्रामीण स्त्री घर गृहस्थी , ढोर डंगर और खेती

तीनों काम करती है, किन्तु परिणाम में उसे भूख, नग्नता, मारपीट और असहायता ही भोगनी पड़ती है. गांवों में स्त्री का जीवन आर्थिक विषमता से दोहरे रूप में पीड़ित है. उसका शोषण गांव के जमींदार, सामंत तो तरह-तरह से करते ही हैं साथ ही घर में पति और बेटे द्वारा भी वह प्रताड़ित होती है. उसकी आर्थिक कमजोरी ही उसे अन्याय सहने को विवश करती है. पुरुष का सारा पुरुषार्थ नारी को पीटने और उत्पीड़ित करने में सीमित हो जाता है. आधुनिक युग में गांवों में कुछ नारियों का शिक्षा जगत और कार्यालयों में जाना तो आरम्भ हो गया है, किन्तु मूल स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया.<sup>5</sup>

स्त्रियों को प्रारम्भ से ही संपत्ति के अधिकार से वंचित रखा गया. शास्त्रों में कहा गया कि स्त्री जब कुंवारी हो तब उसे पिता के संरक्षण में रहना चाहिए, व्याह के बाद पति के संरक्षण में और विधवा होने पर पुत्रों के संरक्षण में. स्त्री को न तो पिता की संपत्ति से कोई हिस्सा मिलता है, न पति की. पति की संपत्ति से जो थोडा बहुत मिलता है वह विधवा होने पर, समाज उसपर तरह-तरह के दोषारोपण करके उसके धन को हस्तगत करने की कोशिश में लगा रहता है. स्त्रियों को संरक्षण देने के नाम पर पुरुष समाज उन पर अत्याचार करने की खुली छूट लेता है. स्त्री घर और बाहर दोनों जगह शोषण की शिकार होती है. उसको बन्धन में रखने के लिए अनेक प्रतिमान गढ़े गये. पुरुषों ने अपनी सुविधानुसार और अपनी पसन्द से बनाए गए प्रतिमानों में स्त्रियों को बांध डाला. युग बदला लेकिन प्रतिमान और स्त्रियों के प्रति पुरुष का नजरिया वही रहा. " भारतीय समाज में स्त्री की एक अलग जाति है, जो अगाड़ी पिछाड़ी दो तरफा मार झेलती हुई इक्कीसवीं शताब्दी के संकरे दरवाजे पर खड़ी है. दरबान हमेशा से मर्द रहा है, जो गहरी जांच पडताल और सूक्ष्म अनुसंधान के बाद उसे देवी या कुलटा का सनद देकर अलग-अलग कठघरे में टेलता है, विश्वग्राम युग में भी स्त्री मूल्यांकन के भारतीय पैमाने बदस्तूर कायम हैं. ....स्त्री के लिए वही दो कटघरे, अगर मर्दानी आंख में स्त्री फिट बैठे तो उसके लिए आर्या, सुभगा, पूज्या, पतिव्रता, सती सावित्री, साध्वी, गृहणी आदि शब्दों के

मीठे व्यंजन परोसे जाते हैं और अगर हे भगवान ! अनफिट हुई तो कुलटा, छिनाल, व्याभिचारिणी ,शूद्रा , प्रमदा, कर्कशा, कडाकुल आदि हत्यारे शब्दों का छापामार दस्ता उसे चौतरफा घेर लेता है.<sup>6</sup> औरत के ऊपर होने वाले अत्याचारों की श्रृंखला आदि से चली आ रही है. अपने दुखों से तंग आकर वे अपने जन्म लेने को ही धिक्कारने लगती हैं. वे कहती हैं कि ईश्वर ! भले ही उसे नरक में डाल दे लेकिन स्त्री के रूप में बनाकर न भेजे—

ओरे विधाता विनती करूँ,परूँ पड़ियां बारंबार.

अगले जनम मोहे बिटिया न किजो,चाहे नरक में दीजौ डार.<sup>7</sup>

महिलाओं के साथ मारपीट हिंसा भ्रूण हत्या , बलात्कार ,वेश्यावृत्ति आदि अपराध बड़े पैमाने पर होते हैं. उनकी तस्करी भी भारी संख्या में की जाती है. भारतीय समाज में स्त्रियों के अलग वर्ग हैं,जो निरंतर अत्याचार झेलती हैं हिन्दू परिवार और मुस्लिम परिवारों दोनों में स्त्रियों की स्थिति लगभग समान है. समाज के सभी वर्गों में चाहे वह हिन्दू हो या मुस्लिम ,स्त्रियों की स्थिति समान है. क्षमा शर्मा की रपट में सईदा बताती हैं किमासिक धर्म शुरू होने पर लड़कियों को स्कूल जाने से रोक दिया है.बानो ने कहा कि वह अपने पति की तीसरी पत्नी हैं.उसका पति उसे वेश्यावृत्ति करने पर मजबूर करता है,जब वह नहीं मानती तो तलाक की धमकी देता है. लतीफा ने कहा मैं कब्रिस्तान में रहती हूँ, मेरे पति ने मुझे तलाक दिया दूसरी शादी की.मुझे न मेहर दिया न गुजारा भत्ता. शकीरा सुल्ताना की उम्र सिर्फ अठारह साल है उसके पांच बच्चे हैं. उसे तलाक दे दिया गया हसना बाबू बीए पास है. उसका पति अक्सर उसे पीटता है और माता-पिता से पैसे लाने के लिए कहता उसने जब अदालत से गुजारा भत्ता मांगा तो उसे जान से मारने की धमकी देने लगा.<sup>8</sup> औरत के ऊपर होने वाली कहानी बस इतनी नहीं है.समाज मुद्रा के लिए उनकी देह का आयात निर्यात करने में भी शर्म नहीं महसूस करता वे बेची जाती हैं. उन्हें देहव्यापार के धर्मों में ढकेल दिया जाता है. इस जघन्य कूरतम कार्य से यह समाज मोटी रकम की कमाई करता है. " 1992 में औरतों के निर्यातक देशों

की औसत वार्षिक आय 680 डालर थी जबकि आयातक देशों की 10376 डालर थी. भूमंडलीकरण के इस नतीजे ने एशियाई देशों की औरतों की वही औपनिवेशिक छवि पुष्ट की है जिसके तहत उन्हें रहस्यमय और यौन क्रिया के लिए उपलब्ध समझा जाता है.<sup>9</sup> आयात निर्यात के दौरान औरतों पर भीषण अत्याचार भी किये जाते हैं. ऐसे न जाने कितने रोंगटे खड़े कर देने वाली सचाईयां रोज दुनियां की आंखों के सामने से गुजर जाती हैं.—“इस घोर अनैतिक आयात निर्यात ने दुनियां भर की औरतों पर हिंसा का कहर बरपा किया है. यूरोप में हर वर्ष गला घोंट कर मार दी गयी. पीट पीट कर मार डाली गयी अथवा गोली से उड़ा दी गयी सैकड़ों औरतों की लाशें बरामद होती हैं. दूसरी ओर नस्लों और दूसरे देशों की इन औरतों को किसी न किसी प्रकार खुद को वेश्यावृत्ति में धकेले जाने का विरोध किया होता है. यूरोपीय पुलिस संगठन ‘यूरोपोल’ का दावा है कि ऐसी ही न जाने कितनी लाशें सफाई से ठिकाने लगा दी जाती हैं जिससे उनकी गिनती नहीं हो पाती. ‘पूर्व और मध्य यूरोप से जवान लड़कियों की तस्करी करने वाले गिरोह बेहद निर्भय और अमानवीय तरीके अपनाने के लिए बदनाम हैं. जनवरी 2000 में बल्गारिया से यूनान ले जाई जा रही 22 औरतों को उनके तस्कर एक पर्वतमाला पर छोड़कर भाग गये क्योंकि उन्हें बर्फ़ीले तूफान का अंदेशा था. जब तक यूनानी सीमा पर तैनात सैनिक उन औरतों को बचाने पहुंचते दो टंड से मर चुकी थी. ”<sup>10</sup> यही नहीं अपने ही घर में ही औरतें शारीरिक शोषण की शिकार होती हैं. ऐसा करने वाले उनके भाई पिता ससुर पति या अन्य रिश्तेदार ही होते हैं. ऐसा लगभग सभी देशों में होता है. “ विभिन्न देशों में किये गये एक सर्वे के अनुसार हर देश की लगभग 10 प्रतिशत से 50 प्रतिशत औरतें अपने अंतरंग सम्बन्धियों द्वारा ही शारीरिक हिंसा का शिकार होती हैं. इनमें से 33 प्रतिशत से 50 प्रतिशत पर यौन हिंसा होती है. नेशनल फेमिली हेल्थ सर्वे-3 के अनुसार भारत में 14 से 49 आयु की लगभग एक तिहाई महिलाएं शारीरिक उत्पीड़न झेलती हैं. प्रत्येक 10 में से एक महिला यौन हिंसा की शिकार होती है.”<sup>11</sup> नीचे दिये गए आंकड़ों से अनुमान लगाया जा सकता है कि महिलाओं

पर हिंसा और उत्पीड़न की कितनी घटनाएं होती हैं, " नेशनल क्राइम रिकार्ड ब्यूरो के आंकड़े के अनुसार सन् 2008 में महिलाओं के खिलाफ अलग अलग प्रकार के उत्पीड़न और हिंसा के कुल 195856 मामले दर्ज किये गए।<sup>12</sup> ये तो दर्ज आंकड़े हैं ऐसे न जाने कितने मामले होते हैं जो दर्ज नहीं हो पाते और घरेलू हिंसा के तो बहुत कम मामले दर्ज होते हैं. महिलाएं स्वयं इन घरेलू हिंसा के खिलाफ कुछ नहीं बोलती, ऐसा उनके उपर पड़े दबावों के कारण होता है. एक तो वे आर्थिक रूप से परिवार पर निर्भर होती हैं दूसरे उनके ऊपर थोपे गये संस्कार , तीसरे परिवार की बदनामी. इसके अलावा भी ऐसे तमाम कारण हैं जिनके दबाव में आकर वे उसका विरोध नहीं कर पाती. धर्मग्रंथों में उल्लिखित तमाम नियम कानून औरतों को बचपन से सिखा दिया जाता है. भले ही वे औरतें अनपढ़ हों लेकिन उन्हें बचपन से यह संस्कार दिया जाता है कि उन्हें अपने पति की सेवा करनी चाहिए तथा उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए. वे औरतें हैं इसलिए उन्हें पुरुषों की बराबरी नहीं करनी चाहिए.

भारतीय समाज में स्त्रियों और शूद्रों को बराबर दर्जा दिया गया. तथा दोनों को ही सारे सामाजिक अधिकारों से वंचित रखा गया. दोनों के ही शोषण को प्राचीन काल से ही जायज ठहराया गया. हम जिस समाज में रहते हैं उसमें स्त्री शोषित है और दलित स्त्री ? उसका क्या....? दलित स्त्री का शोषण एक ओर सवर्ण समाज करता है तो दूसरी ओर उसके अपने समाज के पुरुष, यह स्थिति अधिक अमानवीय है. स्त्री और शूद्र पुरुष की तुलना करने पर स्त्री ही अधिक शोषण की शिकार पाई जाती है. शूद्र पुरुष तो विरोध भी कर सकते हैं लेकिन स्त्री. ..? वह तो उससे अधिक बंधनों में जकड़ी हुई है."आकंठ शासित एवं पूर्णरूपेण अधिनस्थ केवल स्त्री है, इसकी तुलना में शूद्र पुरुष भी कम दलित है.कारण ? उसे आरक्षण मिला हुआ है, वह अपने अधिकार के प्रति सजग और सचेत है.दलित के पक्ष में पूरा देश बोल रहा है.संसद में उसकी आवाज गूंज रही है. वह मर रहा है तो मार भी रहा है और औरत हिंसा को सहती है,मगर हिंसा नहीं कर सकती. उसका

सब कुछ लुटता है और वह रोती है।<sup>13</sup> इस आधार पर देखें तो स्त्री बहुत शोषित है और दलित स्त्री ? वह उससे भी अधिक. दलित महिलाएं एक ओर अपने पति, घर की हिंसा ,उत्पीड़न झेलती है दूसरी ओर सवर्ण पुरुष भी उनका शोषण करते हैं.शोषण को खुलेआम बड़ी निर्लज्जता के साथ सामाजिक मान्यता भी प्रदान कर दी गई. देवदासी और डोला जैसी प्रथाएं बनाकर सवर्ण पुरुषों ने अपनी दबंगई कायम की. औरतों को कीड़े मकोड़े की भांति कुचल डाला. अमानवीय प्रथाओं के माध्यम से वे समाज में अपना दबदबा कायम करते हैं," हिंदू धर्म की महानता तो देखिए कि धर्म के आधार पर हजारों दलित महिलाओं को देवदासी बनाए जाने की प्रथा निर्बाध रूप से भारत के कुछ हिस्सों में आज भी चली आ रही है,इसी धर्म ने देवी यलम्मा के प्रकोप से बचने के लिए केवल दलित महिलाओं को देवदासी बनाने का षण्यंत्र क्यों रचा? क्यों नहीं अदलित महिलाओं को भी यलम्मः देवी के प्रकोप से बचाने के लिए देवदासी बनने के लिए बाध्य किया?"<sup>14</sup>हालांकि ऐसी प्रथा किसी भी वर्ग की महिलाओं के लिए कतई नहीं होनी चाहिए,लेकिन यहां सिर्फ दलित महिलाओं के प्रति हिन्दू समाज के रवैये के बारे में कहा जा रहा था,उनकी साजिश को बेनकाब करने की कोशिश है यहां. अपने घर की औरतों को अन्य पुरुषों की नजर से बचाकर सवर्णसमाज सम्मानित बनने की कोशिश करता है और अपने ही घर की औरतों पर पर्दे की आड़ में जुल्म ढाता है.अपनी भूख मिटाने के लिए दलितों को पद दलित बनाने के लिए उनके घर की नई वधू के साथ पहली रात गुजारता है. कितनी घृणित और अमानवीय प्रथाएं भरी पडी हैं. यह घिनौना समाज अपने को सभ्य कहता है. अगर यही सभ्यता है तो घिनौने जैसे शब्द 'सभ्यता के पर्याय समझे जाएंगे. ताज्जुब की बात तो ये है कि जब सवर्ण पुरुष ऐसे बुरे काम करके घर वापस आते हैं तब भी उनकी स्त्रियां विरोध नहीं करती. इन महिलाओं का भी रवैया दलित महिलाओं के साथ वैसा ही रहता है जैसा कि सवर्ण पुरुष का. अन्य महिलाओं की अपेक्षा दलित महिलाएं अधिक शोषित हैं--" यह कहना कि सभी महिलाएं एक जैसी शोषित हैंऔर दलित महिलाओं की समस्या अदलित महिलाओं



से भिन्न नहीं, यह खुद को भ्रम में डालना है। यदि हम यह कहना चाहें कि अस्पृश्यता के कारण एक कुएं से वह दलित महिला अपने परिवार के लिए पीने का पानी तक नहीं ले सकती, जिसे टोकरी लेकर सवर्णों का मल मूत्र अपने सिर पर उठाना पड़ता है। अस्पृश्य होने के कारण उसे सम्मान देने वाले काम कभी नहीं मिलते। सवर्णों के घरों में उसे केवल सफाई करने के लिए प्रवेश दिया जाता है। उनके रसोई घर में वह झांक भी नहीं सकती। उसके दलित होने के कारण उसे वही रोजगार मिलता है, जो हिन्दू धर्म ने दलितों के लिए निर्धारित किए हैं। किन सवर्ण महिलाओं को ऐसे धिनौने व्यवसाय मजबूरन करने पड़ते हैं? क्या उसे कुएं पर पानी भरने से कोई रोक सकता है? दलितों के प्रति सवर्ण महिलाओं का दृष्टिकोण बिल्कुल वैसा ही घृणात्मक होता है, जैसा कि सवर्ण पुरुषों का। जब खेतों बागानों में दलित स्त्री के स्त्रीत्व का अपमान होता है, उसपर बलात्कार होते हैं, तब क्यों नहीं सवर्ण महिलाएं अपने पुरुषों का विरोध करके उनका बहिष्कार करतीं? महिला मुक्ति का नारा देने वाली हमारी तमाम बुद्धिजीवी सुसंस्कृत महिलाएं बेलछी और कुम्हेर कांड के विरोध में मोर्चे निकालने से कतराती हैं। वे कौन से संस्कार हैं जो इन्हें रोकते हैं? दलित महिलाओं को वह सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक सुरक्षा प्राप्त नहीं है, जो आज सवर्ण महिलाओं को जाति के आधार पर परम्परागत रूप से प्राप्त है।<sup>15</sup>

इन सब के अतिरिक्त और भी ऐसे कुकृत्य इन पर किए जाते हैं, जिससे मानव जाति की सभ्यता बार बार शर्मसार होती है। दलित महिलाओं के साथ सामूहिक बलात्कार, नग्न करके सरेआम घुमाना आम बात है। दलित, आदिवासियों की जमीन पर कब्जा करना, उनके चरित्र पर लाछन लगाना, सब सवर्ण समाज के लोग करते हैं। इस कुकृत्य को करने के पीछे उनके अपने अपने स्वार्थ होते हैं। दलित स्त्री की देह पर सवर्ण अपना अधिकार समझता है। दलित औरत की देह शीर्षक लेख में मणिमाला ऐसी घटनाओं का जिक्र करती हैं। दलित महिलाओं पर किए गए अत्याचार की सुनवाई कहीं नहीं होती। सवर्ण मानसिकता के दरिदे नहीं चाहते कि वे सिर उठाकर जीना सीखें। इसलिए उनपर जघन्य कुकृत्य करने से भी

नहीं झिझकते, बल्कि ऐसे तमाम अपमान जनक तरीके भी ईजात कर लेते हैं जिससे उन्हें भीतर तक तोडा जा सके. भंवरीबाई केस में न्यायपालिका ने नयाय नहीं दिया था. क्योंकि वे दलित महिला थीं. भारत देश में फैसले वर्ग/जाति देखकर दिए जाते हैं.

भंवरीबाई ने बालिका विवाह का विरोध किया , अतः प्रतिशोध में उसके साथ सामूहिक बलात्कार किया गया. मुख्य अभियुक्त के रूप में ग्यारह पुरुष थे, इनमें से दो आपस में चाचा भतीजे थे, एक अत्यंत साधु पुरुष था. यहां मामले के सामाजिक ओर राजनैतिक परिप्रेक्ष्य पर ध्यान देना होगा. चूंकि भंवरी बाई दलित थी और सारे अभियुक्त उच्च जाति के सम्पन्न घरानों से संबंधित थे. अतः न्ययमूर्ति का कहना था कि बलात्कार जैसा जघन्य कर्म इस वर्ग के एवं इस पवित्र किस्म के पुरुष कर ही नहीं सकते. यह सर्वथा भारतीय संस्कृति के खिलाफ है. चूंकि उनमें से एक अभियुक्त ब्राह्मण था और शुद्ध वातावरण में बड़ा हुआ था, संस्कृति के नाते वह इतना नीचे नहीं गिर सकता था कि ऐसे घृणित काम करे. अतः सारे अभियुक्त छूट गए. बस भंवरी बाई को एन्फॉर्मल करार दे दिया गया.<sup>16</sup> ऐसी अनेक घटनाएं दिन प्रतिदिन घटती रहती हैं, और जिनकी कहीं कोई सुनवाई नहीं होती. यही नहीं दलित पक्ष को ही अभियुक्त करार दिया जाता है और तमाम अपराधिक कृत्यों में फंसाने की कोशिश भी की जाती है. उत्तरप्रदेश में दलित महिला के मुख्यमंत्री होने के बावजूद दलित महिलाओं को कोई राहत नहीं. 'उत्पीड़न का उर्वर प्रदेश' शीर्षक लेख में ऐसी कुछ घटनाओं की जानकारी दी गई है. अड़तालिस घंटों में छह दलित स्त्रियों के साथ बलात्कार किया गया. "अत्याचार का दस प्रतिशत हिस्सा उत्तर प्रदेश से है, पर महिला उत्पीड़न का राजनीतिक मुद्दा तभी बना जब बांदा का विधायक पुरुषोत्तम द्विवेदी एक नाबालिक दलित बालिका का बलात्कार करने के जुर्म में रंगे हाथों पकड़ा गया. द्विवेदी को बचाने के लिए लड़की पर चोरी का आरोप लगाकर उसे कारागार भेज दिया गया. इस घटना की आग अभी ठंडी भी नहीं हुई थी कि प्रदेश के शिक्षामंत्री राकेशधर त्रिपाठी के भतीजे का नाम एक दलित नाबालिक लड़की के बलात्कारी मित्र को बचाने के मामले में उजागर हुआ."<sup>17</sup> एक अन्य घटना में 24मार्च 97 को मुरादाबाद जिले के गांव 'राजा नांगल' की श्रीमती कान्ती को

उसी गांव के चौराहे पर कपड़े फाड़कर पीटा और निर्वस्त्र घुमाया. ....इटावा के अछल्दा बाजार में कु. अंजू के साथ बलात्कार करना चाहा. उसने अपनी अस्मत् के लिए संघर्ष किया तो उसका दाहिना हाथ काट दिया. सन् 1981 में उत्तर प्रदेश के फतेहपुर जनपद के गांव सातो धरमपुर में कुच्ची देवी के साथ बलात्कार उसके पति के सामने किया विरोध करने पर मिट्टी का तेल डालकर जिन्दा उसे भूसे में जला दिया. <sup>18</sup> और भी ऐसी तमाम घटनाएं भरी पडी हैं जिनकी कहीं सुनवाई नहीं हुई है .इसके अलावा ऐसी अनेक घटनाएं हैं जो दर्ज नहीं हो पाती. अनेक घटनाओं को बलपूर्वक सामने आने से पहले ही दबा दिया जाता है.

“आजादी के पांच दशकों की दलित महिला यौन शोषण के विषय में उनकी फाइल खोली जाय तो किसी के आंख में आंसू आएंगे,किसी के रोगटे खड़े होंगे. इस फाइल में मध्यप्रदेश ,बिहार ,उत्तर प्रदेश , पंजाब, हरयाणा , राजस्थान महाराष्ट्र आदि राज्यों की घटनाओं का सूचकांक कई हजारों में पहुंच गया है<sup>19</sup> हमारा समाज ऐसे युग में पहुंच चुका है जो अत्याधुनिक है, प्रत्येक क्षेत्रों में महिलाओं की भागीदारी सुनिश्चित की जा रही है. फिर भी उनके प्रति पुरुषों के दृष्टिकोण में कोई बदलाव नहीं आया है. उन पर हिंसा , बलात्कार ,दहेज , हत्या, ऑनर किलिंग , भ्रूण हत्या ,घरेलू हिंसा आदि जाने कितने रूपों में अत्याचार आज भी बदस्तूर जारी है.

#### 4.2 मेरा बचपन मेरे कंधों पर में स्त्री:

मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आत्मकथा में दलित स्त्री जीवन के दुखों की महागाथा लिखी गई है.इसमें जिन स्त्रियों का वर्णन है वे श्यौराज की बेहद करीबी हैं. मसलन् उनकी मां, बहन, तथा आस पड़ोस की स्त्रियां. उनके दुखों को श्यौराज ने अपने बचपन के दिन से ही देखा है भारतीय समाज द्वारा स्त्रियों को दिया गया स्थान जिसमें उन्हें निचले पायदान पर रखा गया है, हर परिवार में देखने को मिलता है. लड़कियों को हमेशा से ही लड़कों से नीचे रखा जाता है. उनके इच्छाओं की कोई गणना नहीं होती. बचपन में श्यौराज की इच्छा पूरी हो जाती थी इसलिए कि वे पुत्र थे. 'पिता जी जिन्हें मैं चाचा कहता था, सिर पर पोटली लेकर घर से निकले थे तो उनके साथ जाने की मैंने बहुत जिद की थी. रोई तो माया बहन भी खूब थी,पर वह मना ली गई थी और मैं जिद पर अड़ गया था.बहन के बाद घर परिवार में बड़ा लड़का मैं ही था, इस कारण मुझे लाड़-'प्यार अधिक मिल रहा था. हलांकि बहन बड़ी थी परन्तु पूरे परिवार का लाड़ मेरे प्रति अधिक था. वंशवेल तो लड़के से ही चलती है, शायद इस विश्वास का अतिरिक्त लाभ मुझे अतिरिक्त स्नेह के रूप में मिल रहा था.<sup>20</sup> आत्मकथा में स्त्री पात्रों की संख्या, उनकी समस्याएं अन्य पात्रों की अपेक्षा बहुत अधिक है. सूरजमुखी, माया, छोटी, मानती, कलावती, मानो जैसी तमाम स्त्रियां त्रासदी की शिकार हैं. मुख्य पात्रों में सूरजमुखी और लेखक की बहन माया है. जिसका ग्यारह वर्ष की उम्र में विवाह हुआ. और जब तक वह ठीक से युवा होती, एक बच्चे की माँ बनी और उसी वक्त विधवा भी हो गई. लेखक ने माया के बारे में लिखा है कि 'ग्यारहवां साल लगते ही उसका विवाह तय कर दिया गया. गांव में मेरी जाति के लोग बाल-विवाह करते थे. आज भी वहां बाल-विवाह होते हैं. मेरी बहन के विवाह के लिए जो लड़का ढूँढा गया था. वह बहन से दस-पन्द्रह साल बड़ा था.'<sup>21</sup> कम उम्र में विवाह और फिर विधवा हो जाना, वह भी गोद में एक नन्हा बच्चा लेकर, कितना कष्टकारी है. एक ओर पति का साथ छूटना, दूसरी ओर बच्चे के पालन-पोषण का भार, तीसरे उस समय वह स्वयं छोटी बच्ची थी. कैसे संभाल पाती अपने आप को. उसे इतनी छोटी सी उम्र में ही यह सब देखना, सहना

पड़ा. आत्मकथा में श्यौराज सिंह बेचैन कहते हैं , “बहन की जिन्दगी पतझड़ के पेड़ की तरह उजड़ गई. वह खेत का काम मर्द की तरह करती थी.”

लेखक की मां की स्थिति भी कुछ इसी तरह की है. पति, पत्नी का सहारा होता है और जब पति असमय गुजर जाय, वह भी पत्नी के गोद में दो-तीन बाल बच्चे देकर ऐसे समय में औरत की स्थिति क्या होगी...वही समझ सकती है. श्यौराज के बीमार असहाय पिता अंधविश्वास की बलि चढ़ जाते हैं. मां की गोद में एक बच्चा, एक बच्चा नेक सिंह सवा साल का, बहन और स्वयं श्यौराज सब एक साथ पिता के मरने से अनाथ हो जाते हैं ओर इन अबोध बच्चों की जिम्मेदारी गरीब मां के कंधों पर पड़ जाती है. “ अम्मा रो-रोकर कहती थी – अरे मोड़ऊ जा चिता में जराइ देउ रे. मैं जी के का करउंगी!” अब बहू धीरज धर, जे बालक अब तोइ ही पालने हैं, तू इनके ताई जिएगी, “बब्बा समझाते कभी ताऊ सुबकते सुबकते कहते- “ मुखी बेटा अब तोइ सीना पे पत्थर धरि के जे बालक पालने हैं. मेरे भैया ने तीन राधे छोडे हैं. राधे के अमानत की देखभाल तोइ करनी है. अब रोवन कूं तो तेरी पेरी पहाड़ सी जिन्दगी परी है. तू बालकनु की सोच बेटा.”<sup>22</sup> यहीं से शुरू होता है उनकी मां का अहर्निश घोर संघर्ष, वे एक घर से दूसरे घर बिठा दी जाती हैं. पर रामलाल उनके बच्चों के पालन पोषण से इनकार करता है. इसलिए भिकारी को उनका पति बना दिया जाता है. मां अपने बच्चों की कोई जिद पूरी नहीं कर पाती. ऐसी स्थिति में वह बेहद असहाय महसूस करती. जब सौराज किसी चीज के लिए मचलते तो मां का यही जवाब होता-“ सुन सौराज कान खोल के सुन ! तेरो बाप मरि चुको है, वो तेरी सुननु को अब कबऊं लौटि के नायं आवेंगे समझे. मैं तेरी कोई जिद पूरी नायं कर पाउंगी. अब तोइ अपनी जिंदगी अपनी कमाई में गुजारनी है. जिद छोड , कछु काम सीख ले. कछु नायं तो साइकिल में पिंजर जोडनो ही सीख ले.’ इस तरह वह रोने लगी और आंसुओं से डबडबाई आंखे लेकर घर के अंदर चली गई.”<sup>23</sup>

अपनी जिंदगी काटने और बच्चों के खतिर श्यौराज की मां निर्दयी भिकारी के पास भी रहना स्वीकार कर लेती हैं. जो उसे पीटता रहता है.”सबसे दुखद यह

कि अम्मा को लाठी डंडे कलाबूत या फरहे से मारा पीटा करता था।<sup>24</sup> समाज को औरत की बेबसी नहीं दिखाई देती. वह तो बस उनके चरित्र पर लांछन लगाने का मौका ढूँढता रहता है. भले ही मुखी की दुबारा शादी कर दी गई, लेकिन लोग ताने देने से बाज नहीं आते. ऐसे निर्दयी समाज को जवाब दें भी तो क्या. " गांव प्रधान के लम्बे चौड़े अहाते में पंचायत हुई. पता चला पुलिस भिकरिया की बहू को पकड़िबे कूं आई है." इस खबर से दर्शकों एवं तमाशबीनों की भीड़ उमड़ पड़ी थी. जाट ब्राह्मण चारपाइयों और तख्तों पर बैठे थे. चमार भंगी अहेरिया, धोबी सब जमीन पर जमा थे. भारी भीड़ थी मैं दूर कोने में खड़ा अपनी बहन के साथ डरा सहमा सारा घटनाक्रम देख सुन रहा था. अम्मा अपराधी की मुद्रा में, पर्दा किये और सिर झुकाए बैठी थी. उससे उल-जलूल सवाल सवाल किये जा रहे थे. कुछ के सवाल ओर व्यंग बाण अम्मा के मानस पर बराबर बरस रहे थे. 'विधवा क्या हुई, दो-दो खसमों के संग रहने के मजे ले रही है, चमरिया जो ठहरी.' अम्मा के पास न तो कोई जवाब था और न कोई जवाब सुनने वाला था.<sup>25</sup> औरतें अपने पति की मार का प्रतिकार नहीं करती. आखिर पति उनका परमेश्वर होता है. घर-घर में मार पीट का माहौल है, और पीटने वाली सिर्फ स्त्री है. पीटाई करने वाला पुरुष. कौन सही है... किसकी गलती है का सवाल ही पैदा नहीं होता. पत्नी को मारना पीटना, घर से बाहर करना आदि मर्द की मर्जी पर निर्भर करता है. "रूक्मनी और उसका पति मुन्नी चमार रात दिन लड़ते झगड़ते रहते थे. वे आपस से ज्यादा अपने घर के झगड़े गांव बस्ती को ज्यादा सुनाते थे. स्त्री, पुरुष पर हाथ नहीं उठा सकती थी. पति से पीटना मर्यादा थी. रूक्मनी पीटने के बाद बुदबुदाती हुई गली से गुजर जाती थी तो मुझे वह अम्मा का ही प्रतिरूप लगती थी."<sup>26</sup>

औरतों का शोषण अपने घर से ही शुरू होता है. घर उनके लिए घर नहीं है. हर वक्त हिंसा की तलवार लटकी रहती है घर- गृहस्थी और अन्य कार्य करने के बावजूद उन्हें मार सहना पड़ता है. औरत को मारना मर्द का अधिकार है और मार खाना जैसे औरत की नियति. " औरतों पर सबसे ज्यादा हिंसा उसके उसी घर के भीतर की जाती है जिसे 'पिया का घर' कहा जाता है. जिसके सुनहरे ख्वाब बुनती हर लड़की बड़ी होती है. अक्सर घर की चार-दीवारी के भीतर होने वाली इस

हिंसा की चीख पुकार सुनाई नहीं देती. यह हिंसा उन लोगों द्वारा की जाती है जिन पर वे सबसे ज्यादा भरोसा करती हैं, मसलन पति, पिता भाई ससुर, चाचा पुत्र, पुरुष मित्र या अन्य करीबी रिश्तेदार. अपने ऊपर की गई इस हिंसा को औरतें अक्सर छिपाती हैं. क्योंकि उन्हें अपना घर बिखरने का भय बना रहता है. "27

मुखी भी अपने पति से मार खाती है. दिन भर काम करना, भोजन का ठीक ठाक ठिकाना नहीं पर भिकारी से पिटना. भिकारी दरिन्दा था. मेरा बचपन मेरे कंधों पर में श्यौराज बताते हैं कि भिकारी तो रूक्मिणी के आदमी से भी ज्यादा निर्दयी, मतलबी ओर लडाकू प्रवृत्ति का था. वह जल्दी गुस्सा हो जाता गुस्से में वह कुछ भी कर गुजरता. और लोगों के समझाने पर घण्टे दो घण्टे में जब उसके गुस्से का पारा टंडा होता तो अपनी गलतियां मानता. दूसरे दिन फिर वही बखेड़ा खड़ा करता. 28 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर आत्मकथा में डॉ. श्यौराज दलित समाज में स्त्रियों की व्यथा कथा भी कहते हैं. यह आत्मकथा स्त्री के जीवन संघर्षों, तमाम अत्याचारों और उनकी करुण कथा को भी प्रस्तुत करती है. " मेरा बचपन मेरे कंधों पर' दलित स्त्री उत्पीड़न का नयाब दस्तावेज है. दलित स्त्री के प्रश्न पर उनकी जो छवि बनी है यह आत्मकथा उसे तोड़ती है. दलित स्त्री के बारे में विमर्शकारों ने जो मिथ गढ़ा है उसे यहां हम भहराते हुए देख सकते हैं. पुरुष उत्पीड़न की शिकार तमाम दलित स्त्रियां इस आपबीती में मौजूद हैं. सबसे बड़ी शिकार तो स्वयं लेखक की मां ही हैं. मां की जिंदगी इस भ्रम का पर्दाफाश करती है कि दलित स्त्रियों को अपेक्षित स्वतंत्रता हासिल है. उन्हें विधवा का जीवन नहीं जीना पड़ता. विधवा होने के दुख नहीं झेलने पड़ते. मुखी के पति की मौत के बाद अपार दुखों का सिलसिला शुरू हो जाता है. रामलाल के यहां गनीमत थी लेकिन भिकारी ने तो जिंदगी ही नारकीय बना दी. "29

मुखी को को मारने के लिए कारण ढूंढता रहता है भिकारी. बात-बे-बात पर मारता है. गाली बकता है. वह पति है समाज ने तो उसे ये सारे अधिकार बगैर मांगे ही दे दिए हैं. लेकिन मुखी का क्या जो अपने बच्चों के खातिर मार सहती रहती है. बाहर सवर्णों का समाज है. जहां उसे पनाह या काम मिलने की गुंजाईश नहीं है

क्योंकि वह दलित है. घर में अत्याचार सहती है, क्योंकि वह स्त्री है. वह इसलिए भी मार खाती है क्योंकि श्यौराज, भिकारी का बेटा नहीं है. साथ ही वह पढ़ने में भी तेज है. इसे भिकारी बर्दाश्त नहीं कर पाता. भरण पोषण कर्ता होने, घर का मालिक और पुरुष होने के नाते भिकारी मां को तिहरे अधिकार से मारता था. उस दिन भी वह बुदबुदा रहा था—‘ससुरी गे कलक्टर बनैगो, मास्टर की हू। निगाह में ससुरी को तेज है, होनहार है, सारे सबद याद कर लए या ससुर ने. याकौ पेट मैं भरू और पढ़ गयो तो सुख दैगो महतारी कूं. गै बिलौटा, खाइबे मैं नाको है और पढ़िवे मैं तेज है, कमाइ बे कूं मरी परे हैं या पै. एसो ‘हनुआ’ लै आइ जो मेरे लडके से ज्यादा होशियार है.’.....स्कूल के थैले से किताबें निकालकर जब फाड़ना चाहा तो अम्मा ने लपककर झटके से किताबें छीन लीं. तब भिकारी ने उछलकर मां की छाती पर एक लात जमा दी और वह चौखाने चित्त गिर पड़ी. उस वक्त ऐसा लग रहा था जैसे कोई भयंकर भूत या जिन्न भिकारी पर सवार है.<sup>30</sup> एसी घटनाएं उनके घर में आए दिन देखने को मिलती हैं. पैसे की कमी के कारण श्यौराज एक दिन 1 रूपया चुरा लेते हैं उसका भयंकर परिणाम उनकी अम्मा को झेलना पड़ता है. भिकारी तो उन्हें मारता ही है साथ में डालचन्द भी. उनकी बेबस अम्मा चीखती जाती है दरिन्दे पशुओं के सामने—‘छोटेलाल चाचा के साथ लौटा तो देखा मेरी मां कसाई द्वारा काटी जा रही गाय की तरह चीख रही थी. मां की चीख मुझे कुछ दूर से सुनाई पड़ गई थी. मैं दौड़कर उसके पास पहुंचा. उस समय मां गलियारे में पड़ी कराह रही थी. उसकी कमर पर भिकारी ने पहला वार फरहे(लकड़ी जिस पर रखकर चमड़ा काटा जाता था) से किया था. उसके बाद डालचन्द ने भी मां के शरीर पर लाठियां बरसाई थी. उसने सिर बचाकर मां का सारा शरीर तोड़ दिया था. मां चीखते कराहते बेहोस हो गई थी. बीरबल बाबा की घर वाली ने मुंह में पानी डाला था.’ इतना सबकुछ करने के बाद लोगों के बीच भिकारी की यह भाषा थी—‘अरे साब ससुर की कूं खाइबे पैरिवे की कोई कमी नाइ है. हम तीन भाई रात दिन कमाइ के याइ और याके बिझारनु की नादें दिन में दोए दोए टेम भत्त हैं. बिना कछु उम्मीद के याकी औलाद को जिमावत हैं. इतने पै हूं या निकम्मी ने एक रूपया पे नीयत डिगाय लई. जरूरत हती तो मांग लेती.’<sup>31</sup> वह स्त्री कैसे अपना



जीवन जीती जिसे पता है कि उसका पति पशु से भी बदतर है. कितना खौफनाक होगा उसके साथ रहना. कितनी साहसी या कितनी मजबूर होगी उसके नगीच रहने वाली महिला. बेबस मां अपने बेटे सौराज से कहती है, " का तू जानत नाँय हैं के तू भिकरिया को सगो बेटा नाँय है. जो तोय चों पढ़ावेगो? तू पढ़िबे की जिदद नाँय छोड़वेगो तो जे तेरे संग-संग हम सबको मारि-मारि के धर तें बाहर निकार देगो. "<sup>32</sup> असहाय औरत ने जिस मर्द का हाथ थामा वही उसके बच्चों का भविष्य उजाड़ने पर लगा था. सौतेला बाप मुखी के बच्चों का पालन नहीं करना चाहता था. "अम्मा उन दिनों मानसिक रूप से बेहद परेशान थी. उसे हमारी चिन्ता थी. हमारा उजड़ता हुआ भविष्य उसे साफ दिखाई दे रहा था. जिस भिकारी को उसने सहारा देने के लिए चुना था, वही उसके बच्चों का भविष्य चौपट करना चाहता था. उसे बस एक स्त्री की जरूरत थी, बच्चों की नहीं. पर बच्चे मां से जुड़े थे. इस कारण हमारा दुख मां का दुख था. जब भिकारी अपनी कमाई रोटी खिलाने से मना करता तो उसका विकल्प अम्मा के पास नहीं था."<sup>33</sup> पति की मृत्यु के बाद माया को कितना कष्ट झेलना है इसे मुखी अम्मा अच्छी तरह जानती है. वह अपने जीवन में उसी दश को झेल रही थी. एक तो वह दलित है, दूसरे गरीब, तीसरे विधवा और चौथे स्त्री जाति. "गरीब स्त्री के लिए विधवा होने के क्या-क्या परिणाम होते हैं? उसके बच्चे कैसे पलते हैं? समाज की भूमिका कैसी होती है? उन सबको याद कर-कर के मां का संताप और गहरा हो रहा था."<sup>34</sup>

दलित स्त्री अपने घर में प्रताड़ित होती है. घर के बाहर सवर्ण समाज उसे दो स्तरों पर शोषित करता है, एक दलित होने के कारण, दूसरा स्त्री होने के कारण. उसका जैसे अपना कोई अस्तित्व न हो. पुरुष प्रधान समाज उसे वस्तु समझता है, अपनी इच्छा पूर्ति का साधन मात्र. "दलित स्त्री दैनंदिन जीवन में अनेक प्रकार से दमन की शिकार हो रही है. लड़की के रूप में पैदा होने के कारण घर में, अस्पृश्य जाति में बड़े होने के कारण गली में, वह कदम-कदम पर अपमानित होती है.

अरे हां अपनी जिन्दगी को मैंने जिया कब?

घर में पुरुषाहंकार एक गाल पर थप्पड़

मारता है तो

गली में वर्ण आधिपत्य दूसरे गाल पर चोट करता है<sup>35</sup> 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर ' में श्यौराज की माँ भी जन्म से थोपी गई जाति का दंश झेलने के लिए विवश है. दलित होने के कारण उसे काम ढूँढ़ने में भी उन्हें तमाम परेशानियों और जिल्लतों का सामना करना पड़ता है, देश की आजादी केवल उन्हीं लोगों के लिए है जो सवर्ण हैं, बड़े हैं, जिनके हाथ में सत्ता की बागडोर है. इस आजादी की हकीकत अम्मा की चन्द बातों से ही हो जाता है. "गरीबी ने देश छुड़ाया दइयो. मिली होइगी बड़ी जाति कू आजादी, हमें तो काम करि केंउ रोटी नाँय दई. छुआछुत नाँय होती तो मैं कहूँ चाय-बीडी की दुकान ही खोल लेती." वह बोलते -बोलते रोने लगती. बाहर बारिश का पानी होता और भीतर अम्मा की आँखों में आँसू.<sup>36</sup>

एक अन्य जगह पर भी श्यौराज सिंह बेचैन बताते हैं कि उनकी माँ बहनों को ऊँची जाति वाले लोग छेड़ा करते थे. " झाड़विंग करते थे सरदार निर्मल सिंह. रास्ते में वे मजदूर औरतों को बातों से छेड़ा करते थे. परन्तु हमारी माँ बहने मजदूरी करते हुए भी अतिरिक्त सावधान रहती थीं. शील उन्हे प्राणों से भी बढ़कर था, पर सरदार जवान लड़कियां देखकर चटकारे लेता था—" वेख ए मम्मे वेख, एनु उठाकर गन्ने बिच(ईख) में ले चले क्या?"<sup>37</sup>

इस आत्मकथा में बालक सौराज के संघर्ष, दारुण कथा के साथ हमें स्त्रियों का करुण संसार भी दिखाई देता है. ये स्त्रियां उत्पीड़न और हिंसा की शिकार हैं, अपमान झेलने को बेबस हैं. समाज और घर उनके अधिकार छीन कर उनके भरण-पोषण के नाम पर अपनी हवश और इच्छाएं पूरी करता है. इस आत्मकथा के माध्यम से श्यौराज एक ओर ब्राह्मणवादी व्यवस्था की आलोचना करते हैं तो दूसरी ओर स्त्रियों पर होने वाले अत्याचार की करुण कथा कहकर दलित समाज की भी बखिया उधेड़ते हैं. पग-पग पर हमें समाज द्वारा किए जाने वाले शोषण के विविध रूप 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर ' आत्मकथा में दिखाई देता है.

## संदर्भ

- <sup>1</sup> हिन्दी साहित्य : वैचारिक पृष्ठभूमि – सं- डॉ. लालचन्द गुप्त 'मंगल' ; पृ.230 हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला
- <sup>2</sup> वही, पृ 230
- <sup>3</sup> हिन्दी साहित्य : वैचारिक पृष्ठभूमि – सं- डॉ. लालचन्द गुप्त 'मंगल' ; पृ.230 हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला
- <sup>4</sup> मुक्ति के स्वर,- मार्च 2011 अंक 13 पृ. 36
- <sup>5</sup> समाजवादी यथार्थवाद और हिन्दी कथा साहित्य – डॉ. प्रेमलता जैन ; पृ. 54 नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली 2004
- <sup>6</sup> हंस जून 1997 पृ 42
- <sup>7</sup> हंस मार्च 2001 पृ 177
- <sup>8</sup> वही 177
- <sup>9</sup> हंस मार्च 2001 पृ 29
- <sup>10</sup> हंस मार्च 2001 पृ 30
- <sup>11</sup> मुक्ति के स्वर,- मार्च 2011 अंक 13 पृ. 14
- <sup>12</sup> वही पृ 30
- <sup>13</sup> हंस जून 1997 पृ 37
- <sup>14</sup> हंस जुलाई 1996 पृ 73
- <sup>15</sup> हंस जुलाई 1996 पृ 73
- <sup>16</sup> हंस जून 1997 पृ 34
- <sup>17</sup> जनसत्ता 26 फरवरी 2011
- <sup>18</sup> बयान अंक 56 पृ 15 मार्च 2011
- <sup>19</sup> वही
- <sup>20</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराज सिंह बेचैन पृ 13 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>21</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराज सिंह बेचैन वाणी प्रकाशन 2009 पृ 102
- <sup>22</sup> वही 24
- <sup>23</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराज सिंह बेचैन पृ 41 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>24</sup> वही पृ 47
- <sup>25</sup> वही पृ 51
- <sup>26</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराज सिंह बेचैन पृ 54 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>27</sup> मुक्ति के स्वर अंक 13 मार्च 2011 पृ 14
- <sup>28</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराज सिंह बेचैन पृ 54 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>29</sup> कथादेश सि. 2009 पृ 73
- <sup>30</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराज सिंह बेचैन पृ 57 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>31</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराज सिंह बेचैन पृ 62 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>32</sup> वही पृ 65
- <sup>33</sup> वही पृ 71
- <sup>34</sup> वही पृ 128
- <sup>35</sup> आधुनिकता के आइने में दलित – अभय कुमार दूबे पृ 240
- <sup>36</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराज सिंह बेचैन पृ 138 वाणी प्रकाशन 2009
- <sup>37</sup> मेरा बचपन मेरे कन्धों पर – श्यौराज सिंह बेचैन पृ 146 वाणी प्रकाशन 2009

## अध्याय पाँच

'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' में भाषा का स्वरूप

भाषा के सवाल पर दलित साहित्यकारों का मानना है कि दलित जैसा जीवन जीता है साहित्य में उसकी अभिव्यक्ति हू-ब-हू वैसी ही होनी चाहिए . इस पर सभी विद्वान एकमत नहीं हैं . कुछ विद्वान दलित साहित्य की भाषा को कटखनी भाषा का नाम देते हैं और भाषा को संस्कारवान् बनाने की बात करते हैं . चूँकि दलित साहित्य की भाषा दलित जीवन से निकलती है, उसमें उसके जीवन के तमाम कटु अनुभव होते हैं ; जिसकी पूर्ण अभिव्यक्ति ही समाज के वास्तविक रूप का दर्शन करा सकती है . दलित साहित्य में भाषा के दो रूप मिलते हैं , एक जिनमें कथ्य तो दलित जीवन से लिया जाता है लेकिन भाषा को वर्तमान समाज की भाषा के अनुसार ढाल लिया जाता है . इसका दूसरा रूप यह है कि भाषा को सीधे दलित समाज से उठाया जाय अर्थात् दलित वर्ग ,समाज में जिस भाषा अथवा बोलचाल का प्रयोग करता है रचना में उसका ही प्रयोग किया जाय .

दलित साहित्य में ऐसी भाषा का प्रयोग होना चाहिए जिसमें उसके जीवन की अभिव्यक्ति हो सके . दलित वर्ग का समाज नया नहीं है . यह वर्णव्यवस्था के निर्माण के समय से ही मौजूद है. उन्हें निम्न श्रेणी में रखने के लिए प्रारम्भ से ही अनेक नियम बनाए गए और हर प्रकार के अधिकारों से वंचित किया गया . दलित साहित्य की भाषा इसी यथार्थ को लेकर सामने आती है. इस भाषा को न असभ्य कहा जा सकता है न गँवार . यह भाषा तथाकथित निम्न वर्णों द्वारा प्रयोग की जाने वाली बोली है. 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' में डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन ने अनेक प्रसंगों में पात्रों के अनुसार आम बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया है. यहां पात्रों का सच जीवंत हो उठता है, परिवेश का यथार्थ उभर कर सामने आ जाता है. 'माँ ने धीरज बधाते हुए कहा—“अरे बेटा तुम रोइ रए हो? मैं जिन्दी हूँ, तुम्हें ठीक कराइ के लै जाऊँगी. एक दिन तुम्हारो और हमारो सिंगरो(पूरा) गाम देखेगो कि मुखी के दामाद की आवाज लौटि आइ. 'तुम भगवान पै भरोसो करौ. डॉक्टर के हाथ में भगवान के हाथ होत है बेटा!' यहां लच्छेदार बनावटी भाषा वह प्रभाव नहीं डाल सकती जो स्वाभाविक और पात्रोचित भाषा ने अपना असर डाला है. "दलित लेखकों ने अपने लेखन के लिए प्रमाण भाषा के बजाय टोली की भाषा का प्रयोग किया है. प्रमाण भाषा का एक 'दर्जा' होता है. 'इस प्रमाण भाषा का दर्जा दलित लेखकों ने

नकारा है. समाज में शिष्ट लोगों द्वारा लेखन के लिए मान्यता प्राप्त भाषा के रूप में 'प्रमाण भाषा की ओर' देखा जाता है. यह शिष्ट मान्यता दलित लेखकों ने नकारी है क्योंकि यह शिष्ट मान्यता एक दम्भ से भरी हुई है. दलित लेखकों को प्रमाण भाषा की अपेक्षा अपनी बस्ती की भाषा अपनी लगती है. दरअसल, प्रमाण भाषा में दलित की बोली के सभी शब्द नहीं मिलते हैं. ऐसे भी अपने अनुभव अपनी मातृभाषा में बिना प्रयास कह पाना अभिव्यक्ति को अधिक तीव्रता देने में सहायक होता है.<sup>2</sup>

थानेदार ने पूछा—'राधे चमार तू ही है'?

'हाँ हुजूर!' वे बोले.

'यह मुंडडा तूने बनाया है?' थानेदार ने सवाल किया.

उन्होंने स्वीकारोक्ति में कहा—'हाँ बनाओ है साब.'

'किस आदमी को बेचा?' फिर सवाल किया.

चाचा ने जवाब दिया, 'पैठ(बाजार) में बेचत हूँ और इकट्ठे टोड़ी भैया कूँ बेच देतु हूँ और कौन कौन खरीदतु है, जा कौ का हिसाब. जो बात मैं कैसे बताऊँ?' उन्होंने असमर्थता व्यक्त की तो थानेदार कुछ क्रुद्ध होकर बोला—' नहीं बताएगा स्साले, चोरों डाकुओं का जूतियाँ पहनाता है, हिस्सा खाता होगा....' इशारा पाते ही सिपाहियों ने उन्हें कारीगरी के इनाम देने शुरू किए. देह पर दो चार डण्डे पड़ते ही वे कराह उठे. लात घूँसों की बरसात होते ही उन्होंने मदद के लिए पुकार की—'बचाओ लम्बदार!' कहकर वे सिपाही सिंह यादव के पैरों में गिर गये.<sup>3</sup>

इसके अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी डा. श्यौराजसिंह बेचैन अपने गाँव, घर की भाषा का प्रयोग करते हैं. यह भाषा पात्रों के अनुकूल है. यह बाहरी लोगों द्वारा मनगढंत भाषा नहीं है, जो अछूतों के जीवन, घर, बस्तियों, रीति— रिवाजों, खान—पानों, विवाह संस्कारों में शामिल नहीं हो पाते. उनके लिए श्यौराज की भाषा किसी अलग देश की भाषा लगती है. शहर के पढ़े—लिखे पात्र खड़ी हिन्दी में बोलते हैं और गाँव के लोग स्थानीय भाषा का प्रयोग करते हैं—

"माँ ने तुरन्त दूसरा सवाल किया— नत्थू बेटा, का कछु और ज़रूरत पड़ेगी?

उन्होंने बताया — हाँ मौसी, आपरेशन के वक्त ब्लड भी माँगा जा सकती है।”

“बिलड”

“हाँ मौसी खून”

“खून मैं दिउँगी बेटा”<sup>4</sup>

जीजाजी और माँ की बातचीत एक अन्यत्र भी ऐसी ही होती है—

“नत्थू ठीक ठीक आइ गओ बेटा.” माँ ने उनके सफल आपरेशन के लिए खुशी जाहिर की.

गंगावासी, अब तुम चिन्ता छोड़ो. भौत बड़ो डाक्टर बनि गओ है नत्थू. सब बिमारिनु की दवा जानतु है. बड़े बड़े डाक्टरनु के संग रहतु है.”

माँ न जाने क्या-क्या अपेक्षाओं के पुल बाँधने लगी. डॉक्टर ने पूछा—

“कहो मौसी कैसी है?”

मेरी चिन्ता तो छोड़ बेटा, “तुम इतने पतरे कैसे है गये? अब पहले अपने इलाज की बात बताओ.”.....डॉक्टर ने हँसते हुए अपना पेट दिखाया—

“देख मौसी अभी टाँके निकाले हैं.”

“टाँके निकालने में दददु नाँय भओ?” मौसी ने पूछा तो वे मुस्कुरा कर बोले—“कैसा दर्द और आनन्द आता है टाँके निकालते वक्त.”

“अरे पर बेटा जो इत्तो बड़ो चीरा, जामे कित्तो दददु भओ होइगो.”<sup>5</sup>

समाज में प्रचलित मुहावरों आदि का भी जिक्र प्रसंगानुसार आत्मकथा में किया गया है. मुखी को बेरहमी से पीटने के बाद डालचंद कहता है, “ ससुरी ने एक रूपया चुराइ के अपनी चोट्टई शुरू करी है. अरे ससुरी मैं सारे बड़े से बड़े तुर्रम की आँख में धूल झोंकि कें उवा के हलकटे में ते हाथ डारि के पैसा लिकारि लायौ और तूने मेरी जेब में हाथ डारौ. कसाई कौ माल बकरिया खाइ जाइ.”<sup>6</sup> सभ्य कहे जाने वाले समाज ने दलितों को संबोधित करने और उन्हें नीचा दिखाने के लिए गन्दे मुहावरे बना डाले हैं. वे बात-बात में इसका प्रयोग करते हैं. दलित वर्ग

के लिए कुशब्दों से भरे मुहावरें, कहावतें, गीत हैं, जो सवर्णों की मानसिकता को दर्शाते हैं. श्यौराज सिंह इन्हें दर्ज करना नहीं भूलते, वे बराबर बताते हैं कि— 'पशुओं में गधा, पक्षियों में उल्लू, जातियों में चमार.....' 'गधेराज चमार', 'चमार की औलाद', 'क्या चमार पंचायत लगा रखी है' या फिर पूर्वी उत्तर प्रदेश में चमार जाति के उभार पर आश्चर्य के गीत बन गए—

चप्पल पहन चमाइन चलें

सैण्डल पहन धोबिनिया

हाय मोरे रामा

बदल गई दुनियाँ"<sup>7</sup>

जाहिर है सवर्ण समाज दलितों के उत्थान को सहज स्वीकार नहीं कर पा रहा. श्यौराज सिंह बेचैन बताते हैं कि 'उन दिनों न जात बिरादरी में हमारी कोई जगह थी और न जाति के बाहर कोई वजूद. अपने जाटवों में चमार, तेलियों यादवों बामनों में चमट्टा थे हम...मुसलमानों का हिन्दूकरण हो चुका था, उनकी नजरें उपेक्षा से भरी रहती थी. जिन्हे हम दादी कहते, ऐसी तेलिन जब मूड में होती तो अन्योक्ति के माध्यम से गालियाँ देती. कभी भैंस से कहती—'पी ले पानी, पी ले तोड़ चमार चीरें' कभी कुतिया डंडा मारते हुए बोलती—'कैसी चमरिया सी निटल्ली बैठी है. उठि नाइ तो टाँगें तोड़ चमरियाने में फिकवाह दिउँगी'.<sup>8</sup>

तथाकथित सभ्य समाज ने अपना वर्चस्व कायम करने के लिए एक ओर शिक्षा पर अपना एकाधिकार किया दूसरी ओर भाषाओं के प्रयोग पर भी नियन्त्रण कायम किया. दलित वर्ग को संस्कृत बोलने की मनाही थी. प्राचीन संस्कृत नाटकों में राजा अपने संवाद संस्कृत में बोलते थे वहीं दास-दासियों को प्राकृत में बोलते दिखाया गया है. कहना न होगा कि दलितों के लिए सवर्ण हमेशा अपमानजनक भाषा का प्रयोग करते रहे ताकि उन्हें नीचा दिखाने में कोई कोर कसर ना रहे. उनके नाम भी इसी प्रकार रखे जाते थे. श्यौराज सिंह बेचैन अपनी आत्मकथा में लिखते हैं—'व्यक्तियों और जातियों के नामों के पीछे जो सम्मान और हिकारत का भाव होता है, मैं वह बाद में समझ पाया. ब्राह्मणों ने क्यों मेरे गाँव के चमारों के



नाम दुर्जना, खचेरू, खूबा, दुंडा और घुरऊ वगैरह रखे, और क्यों यादवों ने भी अच्छे खासे नामों— विधाराम को बीधा, गंगाराम को गंगी, राधेश्याम को रधुआ, सौराज को शौरा कर के विकृत कर दिया”<sup>9</sup>

समाज में दलितों के लिए और भी भद्दी-भद्दी गालियों का प्रयोग होता था. पढ़े लिखे लोग भी ऐसा ही करते थे. उनकी बोली जाति से तय होती थी. ओमप्रकाश वाल्मीकि बताते हैं कि अध्यापकों का आदर्श रूप मैंने देखा वह अभी तक मेरी स्मृति में मिटा नहीं है. “चूहड़े का है ?” हेडमास्टर का दूसरा सवाल उछला.

.....तीसरे दिन मैं कक्षा में जाकर चुपचाप बैठ गया. थोड़ी देर बाद उनकी दहाड़ सुनाई पड़ी, ‘अबे ओ चूहड़े के, मादरचोद कहाँ घुस गया.....अपनी माँ..... तथाकथित निम्न जातियों को हिंकारत भाव से देखने के अतिरिक्त उन्हें गालियों वाले शब्दों से संबोधित किया जाता है. मोहनदास नैमिशराय भी एक घटना का जिक्र करते हैं कि वे अपने साथियों के साथ मंदिर के पास खेल रहे थे. ‘बूढ़े आपस में बतियाते. एक कहता, ‘अरे चौरसिया ये किसके बच्चे हैं ?’

और चौरसिया झट से उत्तर देता—‘सब ससुरे चमारों के हैं’. ‘सब भरस्ट कर के रख दिया है इन्होंने’. तीसरा बीच में बोल उठता.”<sup>10</sup> ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ में डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन घटनाओं प्रसंगों का बहुत बारीकी से ठहर-ठहर कर वर्णन करते हैं. मार्मिकता और संवेदना की सघनता इतनी अधिक है कि विस्तार भी अखरता नहीं. वे बताते हैं कि उनके लिए गालियों वाली भाषा का प्रयोग किया जाता था. “कोल्हू में गुड़ वाले आपस में बातें कर रहे थे—‘अरे जाइ कोई पूरो लत्ता दे देउ, नाइ तो दिनु लिकरे काउ बहू बेटी की नजर इन मनहूसनु पै परि गयी तो दिन-भर को काम-धन्धों खराब है जाइगो. इन चमरनु लदोई दै देउ, थोड़ी मिटास चटाइ के टालौ. इन कमीन बच्चोदनु(गाली) कौड़ी को सलीका नाँय है. न जाने इन्हें कब अकल आवैगी. इन्हें जल्दी दफा करो, मुँह अँधेरे अँधेरे जाइ घुसैं चमरियानें में.”<sup>11</sup> दलित साहित्य की भाषा पर तमाम आरोप लगाए गए हैं. इसमें प्रयुक्त किए गए शब्दों पर आपत्तियां दर्ज की गई हैं. पर ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ को पढ़ने

वाला आलोचक , आत्मविश्लेषण करने को विवश होता है. उसे रुककर सोचने और गैर जिम्मेदार बयान देने से रोकती है यह आत्मकथा. फिर भी इनकी साहित्यिकता पर सवाल उठाए गए.

1997 में भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला में आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में अपने वक्तव्य के दौरान डॉ.वीरभारत तलवार ने कहा था कि 1933 में मुत्कराज आनन्द ने 'अछूत' उपन्यास में या इधर जगदीश चन्द्र ने 'धरती धन न अपना' में पंजाब के एक दलित की मानसिक यातना, अंतर्द्वन्द्व और अकांक्षाओं तथा संघर्ष का जैसा चित्रण किया है, वैसा खुद किसी दलित लेखक ने अभी तक नहीं किया. सहानुभूति से लिखा गया साहित्य ज्यादा प्रभावशाली हो सकता है अगर उसके लेखक की साहित्यिक क्षमता ज्यादा हो, दृष्टि और संवेदनशीलता ज्यादा गहरी हो'.<sup>12</sup> वीर भारत तलवार की 'साहित्यिकता' वाली बात का उत्तर देते हुए मोहनदास नैमिशराय लिखते हैं कि उनकी बात बिलकुल सही है और वाजिब भी. सवाल उठता है कि जिन्हें कभी पढ़ने-लिखने नहीं दिया गया, हमेशा बेरहमी से दबाकर रखा गया, वे अगर अपनी किसी रचना में साहित्यिक प्रतिभा दिखलाएँ भी तो किन शब्दों में. जिन दलितों की आजादी के बाद भी गाँव, बस्ती , शमशान और पनघट भी अलग रहे, वे कौन सी भाषा का प्रयोग करें. जिनकी माँ, बहिन तथा बेटियों पर बेरहमी से अत्याचार और बलात्कार होते रहे, वे लिखें तो किस शैली में. शायद यही कारण रहा होगा कि सवर्ण साहित्यकारों/कथाकारों/समीक्षकों के द्वारा थोपे गए सौंदर्यशास्त्र को दलितों ने सिरे से नकारा.<sup>13</sup> इन दो परस्पर विरोधी संवादों से ज्ञात होता है कि नैमिशराय , डॉ. तलवार से रियायत मांग रहे हैं. परन्तु जब डॉ. तलवार को धर्मवीर के सामने लाया जाए तो वे खुद रियायत मांगेंगे. ऐसा उन्हें कबीर के संदर्भ में करना पड़ा था.फिर दलित के मामले में कहाँ धर्मवीर और कहाँ तलवार.

सबसे बड़ी बात यह है कि सवर्ण समाज को ऐसी भाषा पर आपत्ति क्यों है? यह समाज जैसा है वैसा ही दलित साहित्य में इसका अंकन किया गया है. इसमें अंकित गालियाँ सवर्ण समाज ही दलितों को देता है, किसी दलित के मुँह से

सवर्ण के लिए ऐसी गालियों का प्रयोग होते तो नहीं देखा. जब तक साहित्य में इस बात को सीधे तौर पर नहीं लिखा जाएगा तब तक समाज में व्याप्त विकृति कैसे आ पाएगी? और इस बात को सामने कहने से परहेज क्यों? "दलित साहित्य में कला, रस तथा सौंदर्य की चाह रखने वालों से मेरा कहना है कि दलित साहित्य कलावादी अथवा रंजनवादी साहित्य नहीं है. इसलिए कलावादी साहित्य के सौंदर्यशास्त्र के आधार पर दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र सिद्ध करने की चर्चा नहीं की जा सकती. हमें यह भी तय करना पड़ेगा कि कुरूपता से सौंदर्य कैसे अलग किया जाय, इस विषय में भी निश्चित मत प्रतिपादित करना होगा. <sup>14</sup> गाली-गलौज वाले कुशब्द सवर्णों द्वारा दलितों के लिए प्रयोग करना आम बात है, इसलिए साहित्य में वैसे शब्दों का प्रयोग लाजिमी है.

दलितों की पीड़ा को डॉ. धर्मवीर चाहते हैं कि साहित्य में खुलकर बयान किया जाए. उस पर किसी प्रकार का दबाव न हो, ताकि साहित्यिक स्वास्थ्य बना रहे. सामाजिक और साहित्यिक स्वास्थ्य के लिए भी अच्छा यही है कि दलित साहित्य पर कोई दबाव बनाने या उसके खिलाफ नाकेबन्दी खड़ी करने के बजाय उसे उसके असली रूप में आने दिया जाय. क्योंकि देश आज भी तीन हजार सालों के बाद मूकों की बात सुनने के लिए तैयार नहीं है? क्या यह भारतीय समाज विचार के स्तर पर अभी भी इतना असहिष्णु और पिछड़ा हुआ है कि दलित साहित्य को वैष्णव भाषा में पढ़ना चाहता है."<sup>15</sup> अपनी भाषा में की गई अभिव्यक्ति का प्रभाव तीव्र होता है. घटनाओं को किसी अन्य की भाषा का छद्म आवरण डालने से तो वह बेजान हो जाती है. " जय प्रकाश कर्दम 'मुझसे जन की भाषा में बतियाओ' कविता में उस भाषा की बात करते हैं जिसे अनपढ़ दलित समाज समझ सके :

मेरे दोस्त मेरे लिए

उस भाषा में शुभकामनाएँ मत करो

जो भाषा

कभी मेरी नहीं रही

जिसके लिए रहा मैं सदैव

अत्यज , अस्पृश्य  
मुझे नफरत है  
उस भाषा के संस्कारों से  
इसलिए मेरे दोस्त  
उस भाषा में अभिनन्दन कर  
मेरा अपमान मत करो  
मुझे उस भाषा में  
संबोधित कर मत बुलाओ  
मैं देव नहीं जन हूँ<sup>16</sup>

मेरा बचपन मेरे कंधों पर 'आत्मकथा भाषा की प्रमुखता के बजाय कथ्य पर केन्द्रित है. लेखक स्वयं को देव नहीं मानता और देव भाषा अर्थात् संस्कृत में संबोधन नहीं चाहता.

इसमें अभिव्यक्ति में नूतनता प्रदान करने के लिए गाँव –घर की भाषा का ही प्रयोग किया गया है , दलित औरतों की ऐसी अद्भुत अभिव्यक्ति' दुर्लभ है, बेचैन बताते हैं—“वे सब झुण्ड बनाकर मिस्कुट करतीं—“ ये अगर इज्जत पै हाथ डारें तो हम सब रात कू इकट्ठी हो कै भड़सा-हँसिया तें एक-एक के नन्हें-नन्हें, टुकड़ा करि चलगीं. जेल होइ या उमर कैद.”<sup>17</sup> आत्मकथा में जीवन की घटनाएँ एक के बाद एक कमवार नहीं प्राप्त होती , दरअसल इतनी यादों को सिलसिलेवार रख पाना संभव भी नहीं. जो चीज जहाँ याद आई वहीं लिख गई.आत्मकथा लिखते हुए लेखक ने उस मार्मिक जीवन को एक बार पुनः जिया, भावावेश में ऐसा होना स्वाभाविक हैं. अम्मा, ताऊ, चाचा, बुआ, भाई, नाना, मौसी-मौसा घर, समाज, बदहाली, संघर्ष, भूख दुतकार सहती जिन्दगी....सब मानो उनकी स्मृति में एक साथ ही आ गए....इस गुंफन को सुलझाने बैठते भी तो कैसे.....?? एक स्थान पर अपनी माँ की मृत्यु के बाद अपनी बातें मार्मिक शब्दों में कह रहे होते फिर अचानक माँ की बेबसी का वर्णन करने लगते हैं—

“खुद मेरे पास अपनी पढ़ाई के लिए कोई आर्थिक स्रोत नहीं था. शहर में दाखिला तो पा लेता , उत्तीर्ण भी होता.पर अपनी किताबों –कापियों, रोटी–कपड़ों की व्यवस्था और रहने का कोई प्रबंध नहीं था. माँ की मौत के समय उसकी लाश भी नहीं देख पाया. गया तो चिता की राख भी ठण्डी हो गयी थी. कई दिन तक माँ की राख के पास जाकर बैठा था. अब अम्मा नहीं मेरी कृतघ्न स्मृतियाँ मेरे साथ थी. सोचता हूँ. क्या यह फर्ज अदायगी बाँझ नहीं थी? माँ के प्रति वफादारी और फर्ज–अदाई का इतना ही एहसास था तो उसका पेट भरता, इलाज कराता.”

इसके तुरन्त बाद उनके जेहन में माँ की तसवीर आ जाती है—

“अब एक ओर अम्मा की स्मृतियाँ, जिनमें वह केवल चाचा के जीते जी एक स्त्री थी. वह सम्मानित महिला थी. बाद में उसे इतने कष्ट मिले कि कोई सहृदय इंसान लावारिस गाय भैंस को भी यातनाएँ और अपमान नहीं देगा. वह उतनी ही निर्वाक थी. बराबर काटी जा रही गाय—सी चीख सकती थी. उसके पास और कोई भाषा न थी, न कोई उसको समझने वाला था. वह कानून नहीं जानती थी. तलाक से परिचित न थी. वह पुरुष पर निर्भर थी. दुष्ट पुरुष ही उसका ईश्वर था, जो उसे मजबूरी में मिला था.”<sup>18</sup> इसी तरह बाकी यादें भी आती हैं, जिसकी जहाँ याद आई उसे उन्होंने वहीं लिख दिया....सब कुछ एक दूसरे से जुड़ा हुआ है और बीच में है बालक सौराज.

घर के सदस्यों की कहानी के साथ—साथ वे अपने जीवन से जुड़ी छोटी–छोटी बातें भी करते हैं. उनके घर से दूर खड़ा नीम भी मानो उनके घर का सदस्य है. नीम को देख कर घर याद आ जाता है. घर वापस लौटते वक्त नीम दिखते ही उनमें उत्साह और खुशी का संचार हो जाता, घर के करीब होने का अहसास देता था यह नीम—

“बब्बा जितने बूढ़े थे, उनसे ज्यादा बूढ़ा था उनका नीम. वे कहते थे कि हमने होश सँभाला तब से नीम ऐसा ही देखा है. वैसा बूढ़ा, विशाल ऊँचाई लिये बड़े घेरे की पिंडली वाला वह नीम हमारी जातीय पहचान था. चार कि.मी. दूर सँजना की सड़क और गोठना बंजर जमीन से वह नीम स्पष्ट दिखाई पड़ता था.

रास्ता पैदल का हुआ करता था. नीम दिखा और बढ़ गई हिम्मत. संयोग से चमारों का मोहल्ला बीच गाँव में था और ऊँचें टीले पर था. गाँव के बीच में इस कारण हो गया था, क्योंकि बाहर की जमीन पर यादवों और मुसलमानों ने घर-घर बना लिये थे. 'वो देखो हमारो नीम दीख रओ है. अब पहुँचे घर.' अब आया घर, अब आया घर हम बार-बार कहते जाते और नीम पीछे हटता जाता, हमें घर पहुँचने में घण्टों लग जाते थे. न जाने वह किस बात का गर्व था हमें कि गाँव भर में केवल हम ही नीम वाले हैं.<sup>19</sup> इसी प्रकार गंगी बाबा की कुठरिया भी आती है इस आत्मकथा में एक गहरी टीस लेकर. कोठरिया बिक रही थी और उसका पूरा दाम भी नहीं मिल रहा था गंगी बाबा को.....

"गंगी बब्बा वृद्ध हो रहे थे. उन्होंने गाँव के यादवों से उधार-कर्ज ले लिए थे. वे मेरी पढ़ाई में भी मदद करना चाहते थे, पर पैसा कहाँ था? मैं एक बार स्कूल से लौटा तो पता चला गंगी बाबा को साथ लेकर छोटे चच्चा गुन्नौर तहसील पर पहुँच गये हैं. मैं तुरन्त वहाँ गया. बब्बा क्यों आये हैं? छोटे ने कहा- 'तू मर्ने मत करिए. गंगी चच्चा अपनी कुठरिया बेचि रए हैं.....आखिर नेत्रहीन गंगी बब्बा की कुठरिया बिकी. आधी कामत उरमान ने लपक ली और मैं कुछ नहीं कर सका था.

,,20

इसी प्रकार बन्दर और कुत्ते की भी छोटी सी घटना आती है जैसे- "कुछ समय पूर्व मैंने किसी अखबार में एक दिलचस्प तस्वीर देखी, जिसमें बन्दर कुत्ते की पीठ पर बैठा सवारी कर रहा था. तस्वीर ने मेरी स्मृति ताजा कर दी और मेरे ध्यान में कसेर के वे बन्दर और कुत्ते आ गये जिन्हें मैं रोज ही देखा करता था. फुटपाथ की ओर खुले इस बरौंडे में वह मोटा सा गेँहुँआ रंग का एक कुत्ता हमेशा हमारे पास आकर बैठता था और बन्दरों में मुखिया एक छबरा बन्दर गर्मी-वर्षा से बचने के लिए खपड़ैली बरौंडे में पूर्व की दीवार की ओर टीन के बीच खाली स्थान में आ कर बैठ जाता था."<sup>21</sup> इस प्रकार अन्य छोटी-मोटी घटनाओं को भी समेटती चलती है यह आत्मकथा. इसमें 'हाथ का कड़ा', 'पाताल तोड़ कुएं और पनचक्कियां', 'अमरूद की चोरी', 'कटोरा', 'नंगा बलेड' आदि भी आते हैं.

इस आत्मकथा में लोक शब्दों की भरमार है। यही शब्द एक दूसरे से जुड़ कर एक घर, गाँव और एक पूरी जिन्दगी की झलक लेकर आते हैं। इसके माध्यम से समाज, उसकी संस्कृति का रूप उसमें संघर्षरत गरीब दलित, झंझावत झेलता बच्चा...सब दिखाई पड़ते हैं। इस आत्मकथा में प्रयुक्त शब्द कुछ इस प्रकार हैं— बम्पुलिस (सामूहिक शौचालय), छिका हुआ घर (जाति से बाहर), खोंच, मेढ़ा (भेंड का बच्चा), संगोटा, रंगइया (चमड़ा रंगने का काम), हुनरदारी(योग्यता), फरइया(खाल उतारा जाता था), सीरी(मीट, मछलियाँ, बकरे का सिर), कशीदाकारी, मुंड्या (जूता), पैठ(बाजार), गलुआ, पल्ला (बड़े टोकरे), रेय(बंजर जमीन में सफेद, रेंच, कपड़ा धोने के काम आता है), बँगरिया (मरघट), बीड़ी का सुट्टा, दुतयी ( मोट सूत की चादर), बर्तन—भाड़े, भातइ, ऐरियों (महिला यादव), फिरक, भेलुआ, कुठिया (कुठला), दवा — दारू, बहनौत, बाइयरबानी (स्त्री), मिस्कुट, सपड़ी(अमरूद), मेउ(मेघ), चून (आटा), रैहट, बिजार (बैल), दौँ हॉकना, लाक (कटी हुई फसल के ढेर), मक्का नुकाना, कुठरिया (कोठरी), लदोई, घिया (लौकी), राँधनों (पकाना), सूजतों (आँखों वाली), ढिंग (पास) इत्यादि।

गाँव के देवी—देवताओं के भी नाम प्राप्त होते हैं— बंगाली बाबा, सैयद बाबा, भोपुर वारी चामुंडा, टेंदुआ, सिलौटी आदि। इन सारे शब्दों से एक ओर गाँव में प्रचलित धर्म का पता चलता है , तो दूसरी ओर व्यवसाय से जुड़े शब्दों के बारे में भी जानकारी प्राप्त होती है। यह भाषा न बनावटी है , न संस्कृतनिष्ठ। अपने गाँव—घर की सहज भाषा है। जीवन की अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष और मार्ग में पड़ने वाली दुरुहताओं के लिए अपने जीवन के आसपास से उपजी भाषा का प्रयोग किया है। बेचैन की आत्मकथा के माध्यम से हिन्दी भाषा अपने जड़ों की ओर लौटती दिखती है। लेखक के तारु के रूप में मानो कबीर उपस्थित हो गए हैं। जब वे गाते हैं—

संतों बामन बाग उजाड़ा

ना कुछ ग्यान ध्यान फैलाया

ना कोई काज संवारा

इन पंक्तियों में भाषा बहते नीर के समान दिखाई पड़ती है. फिर यह वह भाषा है जिसका संस्कृत से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है. असल में यह आत्मकथा बेचैन की ही कथा मात्र नहीं है. इसमें बहुत सारी कथाएं साथ-साथ चलती हैं. जिन पर चाहे तो कोई अलग से उपन्यास लिख सकता है. चाहे वे लेखक के अपने सगे-संबंधी हों या अड़ोसी-पड़ोसी. इन सब पात्रों को मिलाकर यह आत्मकथा एक ऐसी पेंटिंग बन जाती है जिसका कैनवास बहुत बड़ा है, जिसमें रंग भरते-भरते चित्रकार के हाथ ही नहीं आत्मा भी दर्द से कराह उठती है. इस पेंटिंग की खासियत यह है कि इसमें अधिकांश पात्रों के चेहरे एक से हैं.<sup>22</sup>

इस आत्मकथा की भाषा के विषय में बहुचर्चित आलोचक और स्तंभकार सुधीश पचौरी ने गंभीर विचार किया है. उन्होंने इसे ब्रजभाषा, पूर्वी उत्तर प्रदेश की हिन्दी कहा है. भाषा और मार्मिक प्रसंगों की दृष्टि से इस आत्मकथा को बड़ा भंडार माना.

'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' की भाषा में सौंदर्य, रस, भाव या विचार की कोई कमी नहीं है, इसके स्वतंत्र अध्ययन की आवश्यकता है. यह उनकी शब्द-शक्ति ही तो है, जो कम संवेदनशील व्यक्ति के हृदय में भी उनके शब्द सीधे उतर जाते हैं..



## संदर्भ

- 1 मेरा बचपन मेरे कंधों पर— श्यौराज सिंह बेचैन, पृ. 121 वाणी प्रकाशन 2009
- 2 दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र – शरणकुमार लिम्बाले पृ. 45 वाणी प्रकाशन 2010
- 3 मेरा बचपन मेरे कंधों पर— श्यौराज सिंह बेचैन, पृ. 88 वाणी प्रकाशन 2009
- 4 मेरा बचपन मेरे कंधों पर— श्यौराज सिंह बेचैन, पृ. 121 वाणी प्रकाशन 2009
- 5 वही पृ 120
- 6 मेरा बचपन मेरे कंधों पर— श्यौराज सिंह बेचैन, पृ 62 वाणी प्रकाशन 2009
- 7 वही 186
- 8 वही पृ200
- 9 मेरा बचपन मेरे कंधों पर— श्यौराज सिंह बेचैन, पृ. 225 वाणी प्रकाशन 2009
- 10 अपने-अपने पिंजरे मोहन दास नैमिशराय पृ 31 वाणी प्र. 2006
- 11 मेरा बचपन मेरे कंधों पर— श्यौराज सिंह बेचैन, पृ. 196 वाणी प्रकाशन 2009
- 12 दलित साहित्य तब और अब— मोहनदास नैमिशराय ,इन्द्रप्रस्थ जुलाई-दिस. 2008 पृ 66
- 13 दलित साहित्य तब और अब— मोहनदास नैमिशराय ,इन्द्रप्रस्थ जुलाई-दिस. 2008 पृ 66
- 14 दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र – शरणकुमार लिम्बाले पृ. 149 वाणी प्रकाशन 2010
- 15 राष्ट्रीय सहारा 8 नव. 1998
- 16 आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श—डॉ. देवेन्द्र चौबे ओरियंट ब्लैकस्वान पृ 189 दिस.2009
- 17 मेरा बचपन मेरे कंधों पर— श्यौराज सिंह बेचैन, पृ. 146 वाणी प्रकाशन 2009
- 18 मेरा बचपन मेरे कंधों पर— श्यौराज सिंह बेचैन, पृ. 67 वाणी प्रकाशन 2009
- 19 वही पृ 84
- 20 मेरा बचपन मेरे कंधों पर— श्यौराज सिंह बेचैन, पृ. 100 वाणी प्रकाशन 2009
- 21 वही 289
- 22 नई धारा, दिसम्बर-जन. 2010

उपसंहार

‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ के समाजशास्त्रीय अध्ययन का उद्देश्य समाज की तमाम विद्रूपताओं के वर्णन, विश्लेषण के साथ-साथ इस आत्मकथा में अंतर्निहित बदलो और बनाओ के भाव की छानबीन करना भी है। आत्मकथा में कई बिन्दुओं को उभारा गया है, जिनमें शिक्षा के लिए तमाम शोषण चक्रों से जूझते हुए एक बालक का आगे बढ़ते जाना सबसे महत्वपूर्ण है। इस आत्मकथा में जीवन का संघर्ष है और साथ ही साथ वह जीवन का सहज सौंदर्य भी, जिसके आगे परिस्थितियों से मिलने वाले दुःख भी पराजित हो जाते हैं। इसका संबंध तत्कालीन पीड़ित एवं शोषित मानव की संवेदना से है। ऐसे में इस आत्मकथा को समाजशास्त्रीय दृष्टि से परखना अत्यंत आवश्यक हो जाता है। यह आत्मकथा महज श्यौराज की कहानी नहीं अपितु लाखों, करोड़ों दलितों की कहानी है। इस आत्मकथा के सहारे हम देख सकते हैं कि किस तरह दलित बच्चे एक ओर बंधुआ मजदूरी करते हैं, तो दूसरी ओर उन्हें बलात् दोगम दर्जे के कामों पर लगाया जाता है। शोषण यहीं नहीं रुकता, गर बाल शोषण तक बात रुकती, तो भी समझ में आता, पर विधि की कलम तो सारे मेयार पार कर जाती है। दुःख, पीड़ा, वेदना से भरा दलित बच्चों का जीवन केवल बाल-शोषण का ही शिकार नहीं बनता, बल्कि जब तब उन्हें जातिगत निम्नता और, क्षुद्रता का भी अहसास कराया जाता है। बालक श्यौराज भी ऐसे ही हालातों से रोज जूझता है। पाठक बालक के हालातों पर तरस खा सकते हैं, परन्तु बालक मेहनत की खाता है, छोटी उम्र में अपनी रोटी आप कमाता है। वह भीख या दया पर निर्भर नहीं है। उसकी खुददारी प्रेरणास्पद है। उसकी सच्चाई कडुवी भी है और कहानियों से ज्यादा रोचक भी।

इस आत्मकथा की केन्द्रीय समस्या शिक्षा के लिए संघर्ष है। व्यवस्थित, औपचारिक और आसानी से शिक्षा पाना आजाद देश के हर बालक का अधिकार होता है, फिर चाहे वह भारत जैसे देश का अछूत बालक श्यौराज ही क्यों न हो। श्यौराज का जन्म 1960 में हुआ था। भारत 1947 में आजाद हुआ और संविधान 1950 में लागू हुआ था। किताब में लिखे अनुभव और घटनाक्रम 1960 से 1978 तक के हैं। इस काल खण्ड में एक बालक बाल-अधिकारों, मानवाधिकारों और इंसानियत के सामान्य अधिकारों से भी वंचित है।

हमारे देश में श्रम और शिक्षा में सामंजस्य नहीं है. जो बालक शिक्षा ग्रहण करते हैं वे शारीरिक श्रम का कोई काम नहीं करते. और जो श्रम करते हैं, उनके लिए शिक्षा ग्रहण करने के अवसर नहीं मिलते. इसका नतीजा यह होता है कि श्रम का सम्मान नहीं होता. यद्यपि शोषण की हद तक बालक श्यौराज अतिशय श्रमरत रहा है, पर उन्होंने शिक्षा भी प्राप्त की है. यही उनकी सफलता और संदेश है. इस आत्मकथा में बालक सौराज के संघर्ष, दारुण कथा, के साथ हमें स्त्रियों का करुण संसार भी दिखाई देता है. ये स्त्रियां उत्पीड़न और हिंसा की शिकार हैं अपमान झेलने को बेबस हैं. समाज और घर उनके अधिकार छीन कर उनके भरण-पोषण के नाम पर अपनी हवश और इच्छाएं पूरी करता है. इस आत्मकथा के माध्यम से श्यौराज एक ओर ब्राह्मणवादी व्यवस्था की आलोचना करते हैं तो दूसरी ओर स्त्रियों पर होने वाले अत्याचार की करुण कथा कहकर दलित समाज की भी बखिया उधेड़ते हैं. पग-पग पर हमें समाज द्वारा किए जाने वाले शोषण के विविध रूप 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' आत्मकथा में दिखाई देता है. एक ओर यहां भारतीय समाज की वीभत्सता सामने आती है दूसरी ओर यह समाज की आलोचना है। इसमें एक बालक की कहानी के साथ-साथ समाज की दरिन्दगी की लम्बी दास्तान भी खोलते चलते हैं भारतीय समाज में धर्म संस्कृति के छद्म आवरण को पूरी तरह बेनकाव किया गया है इस आत्मकथा में।

अगर इस आत्मकथा को भाषा के स्तर पर देखें तो इसमें रस, भाव या विचार की कोई कमी नहीं है. सुधीश पचौरी ने इसे ब्रजभाषा, पूर्वी उत्तर प्रदेश की हिन्दी कहा है. लच्छेदार, बनावटी भाषा वह प्रभव नहीं डाल सकती, जो स्वाभाविक और पात्रोचित भाषा. इस आत्मकथा में पात्रों का सच जीवन्त हो उठता है और परिवेश का यथार्थ उभर कर सामने आ जाता है. अपनी कथा कहने के क्रम में लेखक पूरे समाज की सचाई सामने रखते हैं. छोटी अवधि की कथा में यह आत्मकथा अनेक सवाल छोड़ जाती है.

संदर्भ ग्रंथ सूची

## आधार ग्रंथ

1. श्यौराजसिंह बेचैन मेरा बचपन मेरे कंधों पर  
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009
- संदर्भ –ग्रंथ**
1. हरिनारायण ठाकुर दलित साहित्य का समाजशास्त्र  
भारतीय ज्ञानपीठ, 2009
2. देवेन्द्र चौबे आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श  
ओरियंट ब्लैकस्वान प्रा. लि. 2009
3. श्यौराज सिंह बेचैन  
देवेन्द्र कुमार चौबे चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य  
नवलेखन प्रकाशन सं० 2001
4. डॉ. मैनेजर पाण्डेय साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका  
हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला  
2006
5. राजकिशोर(सं) दलित राजनीति की समस्याएँ  
वाणी प्रकाशन, 2008
6. शरणकुमार लिंबाले दलित साहित्य का सौंदर्य शास्त्र  
वाणी प्रकाशन, 2005
7. अभय कुमार दुबे आधुनिकता के आईने में दलित  
वाणी प्रकाशन, 2002
8. बच्चन सिंह साहित्य का समाजशास्त्र  
लोकभारती प्रकाशन, 2007
9. अनामिका स्त्री मुक्ति का साझा चूल्हा  
नेशनल बुक ट्रस्ट, 2010

10. शरणकुमार लिंबाले अक्करमाशी  
वाणी प्रकाशन, 2009
11. कंवल भारती दलित विमर्श की भूमिका  
साहित्य उपक्रम, इतिहासबोध प्रकाशन  
2007
12. खगोन्द्र ठाकुर(सं) प्रेमचंद : प्रतिनिधि संकलन  
नेशनल बुक ट्रस्ट, 2006
13. राजकिशोर नैतिकता के नए सवाल  
वाणी प्रकाशन, 2006
14. कमला प्रसाद(सं) भारतेन्दु हरिश्चंद्र : प्रतिनिधि संकलन  
नेशनल बुक ट्रस्ट, 2006
15. टी.वी. बॉटमोर समाजशास्त्र (समस्याओं और साहित्य का अध्ययन)  
ग्रंथ शिल्पी, , 2004
16. मैनेजर पाण्डेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि,  
वाणी प्रकाशन, 2005
17. नामवर सिंह(सं) हजारीप्रसाद द्विवेदी : संकलित निबंध,  
नेशनल बुक ट्रस्ट, 2006
18. नामवर सिंह इतिहास व आलोचना,  
राजकमल प्रकाशन,
19. मुक्तिबोध कामायनी एक पुनर्विचार  
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007
20. नन्दकिशोर नवल मुक्तिबोध  
साहित्य अकादमी, 2006
21. निर्मला जैन, साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन,
22. अरविंद जैन : स्त्री : मुक्ति का सपना  
लीलाधर मंडलोई  
वाणी प्रकाशन , 2009

23. पुरुषोत्तम अग्रवाल संस्कृति : वर्चस्व और प्रतिरोध,  
राधाकृष्ण प्रकाशन ,1995
24. ओमप्रकाश वाल्मीकि जूठन  
राधाकृष्ण पेपरबैक्स , 2006
25. ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद भारत का स्वाधीनता संग्राम  
;ग्रंथ शिल्पी प्रका. संस्करण 2004
26. लालचन्द गुप्त 'मंगल' हिन्दी साहित्य :  
वैचारिक पृष्ठभूमि हरियाणा  
साहित्य अकादमी, पंचकूला
27. प्रेमलता जैन समाजवादी यथार्थवाद और हिन्दी कथा साहित्य  
नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली 2004
28. मोहनदास नैमिशराय अपने-अपने पिंजरे अपने-अपने पिंजरे  
वाणी प्र. 2006
29. देवेन्द्र चौबे आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श  
ओरियंट ब्लैकस्वान .2009

#### सहायक ग्रंथ

1. सरला माहेश्वरी नारी प्रश्न  
राधाकृष्ण प्रकाशन, 2007
2. राजेन्द्र यादव आदमी की निगाह में औरत  
राजकमल पेपरबैक्स, 2010
3. धर्मवीर दलित चिन्तन का विकास  
वाणी प्रकाशन, 2008
4. सूर्यनारायण रणसुभे बाबासाहेब अम्बेडकर  
राधाकृष्ण पेपरबैक्स, 2006
5. राम पुनियानी दलित और हिन्दुत्व  
उद्भावना, 2010
6. शरणकुमार लिंबाले दलित साहित्य वेदना और विद्रोह  
वाणी प्रकाशन, 2010



7. साधना आर्य, निवेदिता  
मेनन, जिनी लोकनीता नारीवादी राजनीति  
संघर्ष एवं मुद्दे  
हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय  
दिल्ली विश्वविद्यालय, 2006
8. डॉ० तुलसी राम मुर्दहिया  
राजकमल प्रकाशन, 2010
9. दया पवार अछूत  
राधाकृष्ण पेपरबैक्स, 2010
10. जॉन स्टुअर्ट मिल स्त्रियों की पराधीनता  
राजकमल प्रकाशन, 2003
11. श्यौराज सिंह बेचैन भरोसे की बहन  
वाणी प्रकाशन, 2010

#### सहायक पत्र-पत्रिकाएं

1. द्वारिका प्रसाद चारूमित्र अनभै सांचा  
अक्टूबर-दिसंबर, 2008 अंक 12  
148, कादंबरी, सेक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली
2. डॉ० ज्यातिष जोशी इन्द्रप्रस्थ  
जुलाई-दिसंबर, 2008  
हिन्दी अकादमी, दिल्ली
3. राजेन्द्र यादव हंस  
9 अप्रैल 2007  
अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. दरियागंज, दिल्ली
4. मोहनदास नैमिशराय बयान  
अप्रैल 2011, अंक 57  
बी. जी. 5ए/30-बी पश्चिम विहार,  
नई दिल्ली

5. आशु वर्मा मुक्ति के स्वर-13  
मार्च 2011 , अंक -13
6. मोहनदास नैमिशराय बयान  
मई 2011, अंक 58  
बी. जी. 5ए/30-बी पश्चिम विहार ,  
नई दिल्ली
7. राजेन्द्र यादव हंस  
8 मार्च 2008  
अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. दरियागंज, दिल्ली
8. राजेन्द्र यादव हंस  
अगस्त 2004  
अक्षर प्रकाशन प्रा. लि. दरियागंज, दिल्ली
9. पंकज विष्ट समयान्तर  
अक्टूबर 2009  
79-ए दिलशाद गार्डन, दिल्ली
10. पंकज विष्ट समयान्तर  
फरवरी 2008  
79-ए दिलशाद गार्डन, दिल्ली
11. पंकज विष्ट समयान्तर  
फरवरी 2010  
79-ए दिलशाद गार्डन, दिल्ली
12. रामजी राय जनमत  
जनवरी 2010  
171, कर्नलगंज, इलाहाबा

